जुदाई की शाम का गीत

उपेन्द्रनाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन गृह
प्रयाग

प्रकाशक
नीलाभ प्रकाशन गृह,
५, खुसरो बाग़ रोड,
इलाहाबाद

मूल्य २॥)

मुद्रक
जॉब प्रिंटर्स
६६, हिवट रोड,
इलाहाबाद

स्वप्न सरीखे उन दिनों की याद में
जब ये कहानियाँ लिखी गयीं

विज्ञापन

जुदाई की शाम का गीत में अश्क जी की वे कहानियाँ संकलित हैं जो इधर दो-तीन वर्षों से उपलब्ध न थीं और जिनके सम्बन्ध में निरन्तर पाठकों के पत्र आते रहते थे। इन में से कुछ 'अंकुर' में छपी थीं और कुछ दो एक दूसरी पुस्तकों में, जो आज उपलब्ध नहीं। अब उन सब कहानियों को एक जगह संकलित कर दिया गया है।

जुदाई की शाम का गीत की अधिकांश कहानियाँ उन दिनों की याद हैं जब अश्क जी की लेखनी के रूमानी प्रवाह में यथार्थवादी शैली के सम-विषम उपल-खंड न आये थे और उस में बहती सी नदी का प्रवाह और आकाश में हवा के पंखों पर तैरने वाले पक्षियों के तरारों की अनायासता थी।

किंतु अश्क जी की यथार्थवादी कहानियों में बहुत दूर तक रूमान का पुट रहा है। यह पाठकों के प्रति ही नहीं, स्वयं लेखक के प्रति भी अन्याय होता, यदि उनकी रूमानी लेखनी के यथार्थवादी पक्ष को इस संग्रह में स्थान न दिया जाता। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि जहाँ हम अधिकाश में वे सब कहानियाँ दे पाये हैं, जिन में अश्क जी की रूमानी लेखनी अपने पूरे यौवन पर है, वहाँ कुछ वे उत्कृष्ट कहानियाँ भी संग्रह में हैं, जिन से अश्क जी की लेखनी ने यथार्थवादी मोड़ लिया।

अश्क जी के कहानी-साहित्य में ये रूमान भरी यथार्थवादी कहानियाँ बड़ा ऊँचा दर्जा रखती हैं और यदि लेखक की दस सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ चुनी जायें तो तीन चार इस एक संग्रह में मिल जायेंगी।

आलोचकों की सुविधा के लिए पुस्तक में एक परिशिष्ठ जोड़कर कहानियों का रचना-काल दे दिया गया है।

आशा है पाठक हमारे इस प्रयास को सराहेंगे।

प्रकाशक

क्रम

जुदाई की शाम का गीत

सपने

......और मैं सदैव तीन लाख के स्वप्न देखता हूँ। जागते समय और प्रायः चलते समय मैं ये स्वप्न देखा करता हूँ। मैंने आज तक कभी लाटरी का टिकट नहीं ख़रीदा, फिर भी मुझे अचानक लाटरी ही से तीन लाख रुपये मिल जाते हैं और मैं चलते-चलते, प्राय: चिलचिलाती धूप और प्रायः बहते झक्कड़ को भूलकर, किसी सुन्दर घाटी में अपना एक 'एकान्त-नीड़' बनाने में निमग्न हो जाता हूँ। मेरे इस छोटे-से नीड़ में एक छोटा-सा पुस्तकालय होता है। पढ़ते-पढ़ते थक जाने पर खेलने के लिए पिंग-पॉग, कैरम, बैगाटिल और दूसरी खेलें होती हैं। सैर करने के लिए छोटी-सी वाटिका होती है। मैं किसी सुन्दर भोली-भाली लड़की से मुहब्बत करता हूँ। रिश्तेदारों के लिए काफ़ी रुपया छोड़कर वहीं अपने उस 'नीड़' में जा बसता हूँ। एकान्त से मन ऊब न जाये, इस विचार से एक ऐसा ही बँगला, जिस पर विनम्रता से, 'घोंसला' लिखा होता है, नगर के किसी कोने में बनाता हूँ, गुज़ारे के लिए बैंक से काफ़ी सूद मिलता है और अपने इन दोनों 'आशियानों'* में जीवन के

---

*आशियाना = नीड़

दिन व्यतीत करता हुआ साहित्य-सेवा में निरत रहता हूँ। किताबों पर किताबें लिखता हूँ और मेरा नाम भारत की सीमाओं के पार...किन्तु मेरा यह स्वप्न-चित्र कभी पूरा नहीं उतरता; क्योंकि मैं ब्योरों (details) में उलझ जाता हूँ— मेरे पत्नी है, बच्चे हैं, और फिर भाई-बहनें और ...और......

और असौज की इस पूर्णमासी को जब चाँद की किरणों में हलका-सा सुनहलापन था और तारकोल की सड़क कहीं-कहीं मरीचिका-सी चमक जाती थी, मैं चलता-चलता ऐसे ही 'जाग्रत-स्वप्न' में खो गया था।

मै सब्जीमंडी से कुछ पैसे (और अगर मिल सकें तो कुछ अधेले) लाने के लिए घर से निकला था। अभी अचानक मालूम हुआ था कि आज चाँद ग्रहन है और मा ने कहा था कि कुछ पैसे लेते आना, कोई मँगता भिखारी ही आ जाता है।

मुझे भिखारियों से चिढ़ है—गन्दे, कुरूप, दुर्गन्ध-युक्त भिखारियों से—उनकी सूरत मेरी सौन्दर्य-भावना को ठेस पहुँचाती है, या उन्हें देखकर मेरे मानस-पट से ब्रह्माण्ड के सौन्दर्य की रेखाएँ धुँधली पड़ने लगती हैं, या फिर उन कीड़ों की भाँति रेंगनेवाले मानवों को देखकर मैं संसार की विषमता की बात सोचने लगता हूँ। मैं ठीक से कुछ नहीं कह सकता। एक कारण यह भी हो सकता है कि किसी भिखारी को देखते ही मेरी आँखों के सामने कई घिनावने दृश्य एक साथ घूम जाते हैं......

......मैं हलवाई की दुकान पर बैठा होता हूँ। मुझे सुबह-सुबह पेड़े और दही की लस्सी पीने की आदत है, जब तक लस्सी मेरे सामने बनकर नहीं आ जाती, मुझे सन्तोष नहीं होता...चाहता हूँ, हलवाई देसे कह दूँ, 'और अधिक न मथो', किन्तु यदि दही को ठीक तरह मथा जाये तो मलाई नहीं मरती और छिदी सारा मज़ा किरकिरा कर देती है। और यों भी यदि लस्सी में पेड़े मिलाये जायें तो अधिक देर

लगती है। राम-राम करके कहीं लस्सी तैयार होती है। गिलास के ऊपर मक्खन की तह और लस्सी की सफेद झाग से आँखों को ठंडक-सी पहुँचने लगती है। हलवाई उस पर केवड़ा छिड़ककर मक्खन पर चमचा रख देता है। लेकिन अभी मैं गिलास को ओठों से नहीं लगाता कि पीछे से गर्दन पर हवा का हलका-सा झोंका लगता है और कानों में अगनित मक्खियों की भिनभिनाहट की भाँति दर्द-भरा-सा स्वर गूंजने लगता है, "एक पैसा दिलवा दे बाबू, तेरी नौकरी बनी रहे..."

विवश हो एक बार उधर देखकर आँखें फिरा लेता हूँ। लेकिन लस्सी कंठ के नीचे उतरने से इनकार कर देती है—रूखे, शुष्क, उलझे बाल, आँखों में कीचड़, दाँतों पर पीली पीली मैल, गन्दे चीकट कपड़े—एक भिखारिन पंखी से हवा करती हुई कहती है—"बाबू एक पैसा..." केवड़े की गन्ध मर जाती है और स्वादिष्ट लस्सी के घूंट विष के घूंट बन जाते हैं...

......सख्त भीड़ से किसी न किसी तरह गुज़र कर अपने बच्चे को सँभाले, अपनी पत्नी और कुली दोनों पर निगाह रखता हुआ, मैं स्टेशन के प्लैटफ़ार्म से निकलता हूँ और ताँगेवालों के चंगुल में फँस जाता हूँ— कोई ट्रङ्क खींचता है ; कोई बिस्तर ; कोई गठड़ी ; बच्चा घबराकर रोने लगता है ; पत्नी परेशान-सी खड़ी रह जाती है ; गर्दन और माथे का पसीना पोंछते हुए मैं ताँगेवालों से झगड़ता हूँ कि—'तेरी सुन्दर सूरत पर मर जाऊँ रे बाबू !'...'तेरी कटीली ऐनक पर मर जाऊँ रे बाबू !' का गीत गाती हुई, टखनों से ऊँचा लहँगा और फटी-फटी बंडी पहने एक लड़की मेरे इर्द-गिर्द घूमने लगती है। और 'माई तेरा बच्चा जीवे !' और 'माई तेरा मालिक जीवे !' की तान लगाती हुई उसकी बहन मेरी पत्नी को घेर लेती है। मैं ज़ोर-ज़ोर से चीखता हूँ ; लेकिन ताँगेवालों के कोलाहल के ऊपर से कहीं मेरे कानों में ये आवाजें अनवरत आती रहती हैं—'तेरी सुन्दर सूरत...' और फिर—'माई तेरा बच्चा...'

......और कभी-कभी कोई नंग-धड़ंग लड़का पेट पर हाथ मारता हुआ— "बाप मर गया क़िस्मत फूटी !" की रट लगाता, तपती धूप में, मेरे ताँगे के पीछे भागता है। मैं ताँगे को तेज़ चलाने की आज्ञा देता हूँ। वह भी तेज़ हो जाता है......

......और कभी जब मैं दोपहर को काम काज से छुट्टी पाकर, चाँदनी चौक से होता हुआ घर को लौटता हूँ, तो प्रायः मुझे ऐसा लगता है कि मैं किसी सूने, निस्तब्ध बाज़ार से गुज़र रहा हूँ। मुझे चाँदनी चौक की भीड़-भाड़, तड़क-भड़क कुछ भी दिखाई नहीं देती। मैं देखता हूँ— वर्षों से स्नान-वंचित, वस्त्र-हीन कोई अन्धा भिखारी, किसी बन्द दुकान से तख़ते से उठकर, रुक-रुककर पग धरता हुआ, किसी निरजन के पेड़ की जड़ों में, लघु शंका से निवृत्ति पाने बैठ जाता है। या फिर कजली के पेड़ के नीचे कोई अधेड़ उम्र की भिखारिन अपने रूखे उलझे बालों को, अपने मैल से काली पड़ जानेवाली, अँगुलियों की कंघी से सुलझाती है। और शालामार टाकीज़ के तँदूरों और खोंचे वालों के इर्द-गिर्द भूखे कुत्तों की तरह बैठे हुए भिखारी और उनके बच्चे सतृष्ण नेत्रों से रोटी के टुकड़ों की ओर देखते हैं......

अन्तरिक्ष पर छाई हुई धूल, जैसे नीरस और उत्तप्त साँझ की उदासी और घुटन में वृद्धि कर देती है, उसी प्रकार ये सब दृश्य मेरे व्यथित और उदास मन को और भी व्यथित और उदास बना देते हैं।

और मैं किसी भिखारी को पैसा नहीं देता। एक को एक दो पैसा देकर अन्य बीसियों को इनकार कर देना मेरे लिए कठिन है। और फिर एक ताँबे का पैसा, पाव-आध-पाव आटा या चने के चन्द दाने वर्ग-गत असमता के इस रोग का इलाज भी तो नहीं......

और मैं स्वप्न देखा करता हूँ...तीन लाख के स्वप्न...इस दुर्गन्ध, कुरूपता, असमता, बेकारी, गरीबी, गन्दगी, विपन्नता, भूख और बेचारगी से दूर—रूप-सौन्दर्य, धन-वैभव, सुख-आराम और हर्ष-उल्लास के स्वप्न......

लेकिन मा तो ऐसे स्वप्न नहीं देखती। अपनी वर्तमान दशा पर ही वह सन्तुष्ट है। द्वार पर आ जानेवाले हरेक भिखारी के लिए उसके भंडार में कुछ न कुछ मौजूद है—फिर वह बासी रोटी हो या एक कटोरी भर आटा। इसीलिए जब कुछ देर पहले छोटे ने आकर बताया कि आज चाँद ग्रहण है और नरेन्द्र ने बाहर से आकर इस बात का समर्थन भी कर दिया कि दस अड़तालिस पर ग्रहण लगेगा, तो मा ने जल्दी का शोर मचा दिया कि खाना तत्काल ख़त्म किया जाये ताकि वे नहाकर पूजा के लिए तैयार हो जायँ। हमने नहाये बिना जल्दी-जल्दी रोटी ख़त्म की, तब मा ने दिल्ली और दिल्ली के इस एकान्त कोने में बने हुए कार्टरों को कोसते हुए कहा कि इस निगोड़े शहर में दिन-वार, तीज-त्योहार का कुछ भी पता नहीं चलता, आज चाँद-ग्रहण है, यदि कहीं इस बात का पहले पता लग जाता तो रसोई आदि से निबट कर जमुनाजी में जाकर दो डुबकियाँ ही लगा लेते।

डुबकियाँ...मैं मन ही मन हँसा...आजीविका के भँवर ही क्या कम हैं जो किसी दूसरी नदी में जाकर डुबकियाँ लगाने की ज़रूरत महसूस हो। इनके पानियों से उभरे तो कहीं और जाकर ग़ोते लगाने की उमंग जी में उठे।

और मैं कुल्ला आदि करके बाहर जाने को तैयार हुआ। इतनी चाँदनी थी कि घर में बैठे रहना गुनाह करने के बराबर मालूम होता था। फिर कुछ तबीयत भी भारी थी—मेरी भूख के सम्बन्ध में, मेरे नहीं वरन् अपने अनुमान से मा ने खाना खिलाया था—ख्याल था कि सब्ज़ी मंडी से खारा या खारी-मीठे सोडे की एक बोतल ही पी आऊँगा, जब चलने लगा तो मा ने कहा था कि वहीं से कुछ पैसे अधेले भी लेते आना।

मैंने कहा था, "बटुए में पाँच-छै आने जो हैं।"

माँ बोली थी, "आने नहीं पैसे या अधेले चाहिएं। कोई मँगता भिखारी ही आ जाता है।"

असौज की पूर्णमासी का सुनहरी-मायल-सफेद चाँद किनारे के नीम की शाखों में लटकता, उलझता, छिपता, छनता, बर्फ़खाने के धुएँ से पीला पड़कर निकलता, हलके सफेद बादलों पर तैरता, मेरे साथ-साथ चला आता था। सब्जी मंडी की बनी हुई नयी इमारत और इधर-उधर अस्त व्यस्त से बिखरे ईंटों के ढेर, फ़ुट-पाथ पर लगी हुई घड़ों और मटकों की सोयी हुई दुकान, परे जीतगढ़ का मीनार, सामने दूर तक बिजली के खंभों की क़तार और किनारे के वृक्षों के नीचे प्रकाश और छाया के जाल—सब, स्वप्न-संसार के से मालूम होते थे। और मैं फिर किसी पहाड़ पर अपना 'नीड़' बनाने में निमग्न हो गया था।

मैं नहीं जानता कब अनजाने मंडलों से ये 'जाग्रत-स्वप्न' मेरे मस्तिष्क पर उतर आते हैं। मैं एकदम तीन लाख रुपये पा जाता हूँ और फिर चलता-चलता उनके प्रयोग के सम्बन्ध में स्कीमें बनाने लगता हूँ।

बड़े ज़ोर से ट्रैम की घन्टी बजी और ड्राइवर चीख़ा और मैं उचककर फ़ुटपाथ पर हो गया। इस बाल-बाल बच जाने पर मुझे रोमांच हो आया और पिंडलियाँ काँपने लगीं। मेरे ये स्वप्न...मैं ज़रूर किसी मोटर बस, ट्रैम या ताँगे के नीचे आकर मरूँगा।

मैंने लम्बी साँस लेकर इर्द-गिर्द देखा। मैं मंडी दरवाजा के पास था। बाज़ार का यह हिस्सा काफ़ी ग़लीज़ और गन्दा है। दोनों ओर छोटी-छोटी-सी दुकानें घन्टाघर तक चली गयी हैं, जिनमें मोचियों, पनवाड़ियों और हलवाइयों की दुकानों का आधिक्य है। कुछ बड़ी दुकानें भी हैं, किन्तु उनकी संख्या चनों में गेहूँ के बराबर है। बाज़ार यद्यपि कुछ चौड़े हैं, किन्तु फिर भी उनमें से गुज़रते समय बड़ी कोफ़्त होती है—प्रायः बर्फ़खाने का धुआँ सारे बाज़ार पर छाया होता है और कभी जब वह ख़ामोश होता है तो परे सब्जी मंडी के दूसरे सिरे पर बिड़ला मिल की चिमनी स्याह बादल उगल रही होती है।

उस समय मंडी की अधिकांश दुकानें बन्द हो चुकी थी, सिर्फ पनवाड़ियों और हलवाइयों की दुकानें खुली थीं। एक घड़ीसाज़ की दुकान भी खुली थी, शायद इसलिए कि वहाँ पान भी बिकते थे। दुकानों के फ़ुटपाथ पर दिन भर के थके-माँदे बेसुध इन्सान सोये हुए थे। कई जगह दो-दो आदमी एक-एक चारपाई पर सोये थे। एक जगह दो आदमी फ़ुटपाथ पर चादर बिछाकर सोये हुए थे। कुछ ऐसे भी थे, जिन्हें चारपाई या चादर दोनों में से एक चीज़ भी प्राप्त न थी—नंगे फर्श पर नंगे बदन, चाँदनी की चादर ओढ़े वे नींद में बेहोश थे। कहीं-कहीं किसी दुबली-पतली कुतिया के पीछे गुर्राते, भूँकते, लड़ते, कुत्ते घूम रहे थे और कभी-कभी कोई ट्रैम इस बढ़ते हुए सन्नाटे को तोड़ती हुई निकल जाती थी।

एक उबासियाँ लेते हुए पनवाड़ी की दुकान पर मैं रुका और मैंने उसे खारी और मीठे सोडे की छोटी दो बोतलों को मिलाकर एक गिलास बना देने के लिए कहा।

पनवाड़ी ने गिलास बना दिया। मैंने पाँच-छै आने, जितने भी मेरे पास थे, उसके हाथ पर रख दिये और कहा कि अपने पैसे काटकर बाक़ी के पैसे या अधेले दे दे।

पनवाड़ी के पास अधेले नहीं थे। उसने मुझे पैसे दे दिये। गिलास वापस देकर मैंने उन्हें जेब में डाला। सिल्क की हल्की-फुल्की क़मीज़ की जेब में उन सोलह-सत्रह पैसों का बोझ काफ़ी-सा महसूस होने लगा। ग्रहण लगने में अभी पौन घण्टे की देर थी। मैंने सोचा कि चलो ज़रा पंजाबी गली तक काति के हो आये। और मैं चल पड़ा।

कुछ और आगे जाकर, जहाँ बायीं ओर की छोटी-छोटी दुकानों का सिलसिला ख़त्म हो गया है, मैं रुक गया। फ़ुटपाथ पर कुछ भिखारी स्त्रियाँ मानो एक दूसरी को तकिया बनाये पड़ी थीं। एक दो पुरुष भी थे। किन्तु शायद वे कुछ फ़ासले पर बैठे थे। कुछ तमाशाई भी खड़े थे और चाँद-ग्रहण के सम्बन्ध ही में बातें हो रही थीं। एक कह रहा था—

"अरे राहू ग्रस लेता है चाँद को।"

"अजी कौन राहू?" एक आवारा-सा नवयुवक बोला (जिसने छठी-सातवीं तक ज़रूर साइंस पढ़ी होगी और जिसकी भूखी आँखें उस समय उस नौजवान भिखारिन पर लगी हुई थीं, जिसके कुर्ते के बटन टूटे हुए थे और जो अपने रिरियाते बच्चे को दूध पिला रही थी।) "यह तो चाँद पर धरती का साया पड़ जाता है।"

"अभी क्या ग्रहण लगा नहीं?" एक बूढ़ी भिखारिन बोली, जिसने फ़ुटपाथ के नीचे पाँव पसार रखे थे।

"अभी तो दस बजे हैं।" नवयुवक ने कहा।

"ज़्यादह वक्त होगा।" एक दूसरा व्यक्ति बोला।

"दस बजकर पाँच मिनट हुए हैं। वह सामने घंटाघर की सुई नहीं दिखाई दे रही क्या?" नवयुवक ने उपेक्षा से कहा।

मैंने मुड़कर देखा। चाँदनी के बावजूद घंटाघर की सुई दिखाई न दे रही थी। किन्तु उस नवयुवक को ज़रूर दिखाई दे रही होगी, क्योंकि उसकी निगाहें काफी तेज़ थीं।

"अच्छा तो बाबू एक बीड़ी ही पिलवा दो।" सड़क से पाँव सिकोड़ते हुए बूढ़ी भिखारिन ने कहा।

"पिला दो एक बीड़ी बाबू जी।" नौजवान भिखारिन लगभग गिड़गिड़ाते हुए बोली, "तुम्हारा दान होगा।"

"हम तो स्वयं ग्रहण का दान लेने निकले हैं।" नवयुवक ने बेहयाई से कहा और अर्थभरी दृष्टि से भिखारिन की ओर देखा। "दिलायेगा हमें भी कोई दान?"

और एक खोखली-सी हँसी हँसता हुआ वह बढ़ चला। शेष तमाशाई भी उसके पीछे चले गये।

जीर्ण-शीर्ण और गंदगी की उपेक्षित बोरियों सी वे चन्द भिखारिनें वहाँ पड़ी थीं। चार-पाँच लेटी हुई थीं। एक खाँस रही थी। दो-तीन लड़कियाँ बेहोशी की नींद सोयी हुई थीं—नंगी धरती पर पेट के बल,

टाँगें फैलाये ! और वह नौजवान भिखारिन तनी बैठी थी, शायद सूखी धरती पर लेटे-लेटे उसकी कमर अकड़ गयी थी। और उसका बच्चा उसी तरह रिरिया रहा था और उसकी छाती पर कुर्ते के बटन उसी तरह खुले हुए थे।

मुझे वहाँ यों अकेले खड़े रहने में शर्म-सी आने लगी। मैं चल पड़ा और मैंने अपने स्वप्न के अपूर्ण चित्र को पूर्ण बनाने की कोशिश की। मन को पहाड़ों की सुरम्य घाटियों में ले चला। लेकिन मेरी आँखों के सामने रह-रह कर भिखारियों की वही टोली आने लगी और कानों में वही अरमान भरे शब्द, "अच्छा तो बाबू एक बीड़ी ही पिलवा दो!" और यद्यपि भिखारियों के विभिन्न दृश्य मेरे मन को बेहद उदास बना चुके थे और मैं बेतरह अपनी सपनों की दुनियाँ में भाग जाना चाहता था, लेकिन इस पर भी मैं बेख्याली में अपने स्वप्न के बदले उस भिखारिन का स्वप्न देखने लगा। वह भिखारिन पहाड़ की किसी सुरम्य घाटी अथवा नगर के किसी एकान्त कोने में बने हुए किसी सुन्दर बंगले (जिस पर विनम्र शब्दों में 'नीड़' या 'कुटीर' लिखा हुआ हो) और उसके सुख-आराम का स्वप्न तो भला क्या लेती। उसका बड़ा से बड़ा सपना तो भरा पेट, सिर छिपाने की जगह और एक बीड़ी होगा।

उसका पेट जरूर भर चुका होगा, नहीं वह बीड़ी माँगने के बदले रोटी माँगती और मैंने देखा कि असौज की उस दमकती हुई चाँदनी में, ठंडे फुटपाथ पर लेटे-लेटे उसे रोटी की या पनाह की जरूरत नहीं, उसकी सब से बड़ी हसरत तो उस समय एक बीड़ी है। तो क्यों न मैं उसके इस स्वप्न को पूरा कर दूँ......लेकिन मुझे तो भिखारियों से चिढ़ है और मैंने उसके स्वप्न को और उसे पूरा करने की अपनी इच्छा को परे हटाकर कान्ति को आवाज़ दी। दो-तीन आवाज़ें देने पर मालूम हुआ कि वह इस चाँदनी में सड़कों पर आवारागर्दी करने के बदले चुप-चाप बिस्तर पर सो जाने को गुनाह ख्याल नहीं करता।

मैं मुड़ा, बिड़ला मिल की चिमनी फिर धुआँ उगलने लगी थी

और चाँद फिर पीला पड़ गया था।

मैं उन भिखारियों के पास से गुजरा। किसी दूरस्थ प्रदेश से पैदल चले आनेवाले, थक-हारकर सूखी धरती ही को बिस्तर बना लेनेवाले, श्रान्त-क्लान्त पथिकों की भाँति वे एक दूसरे से सटे हुए पड़े थे। नौजवान भिखारिन अभी बैठी थी और वृद्धा ने फिर टाँगें पसार ली थीं।

एक अज्ञात प्रेरणा के अधीन मैंने पूछा, "तुम में से किसी ने बीड़ी माँगी थी!"

एक साथ ही तीन-चार भूखी निगाहें मेरी ओर उठीं—"हाँ" और फिर उन्होंने कहा, "इस बुढ़िया को चाहिए!"—शायद वे उस बुढ़िया का नाम लेकर मेरी हमदर्दी को बढ़ाना चाहती थीं, नहीं यों बीड़ी की हसरत मैंने उन सब की आवाज़ों में महसूस की।

मैंने कहा, "मेरे साथ आओ! एक बन्डल ले दूँ।"

और वह बुढ़िया उठी। धुएँ से छनकर आती हुई चाँद और बिजली के अण्डों की रोशनी में मैंने देखा— उसकी उम्र ज्यादह न थी। क़द भी लम्बा था। लेकिन वक्त और आवारगी ने उसके चेहरे पर बेशुमार लकीरें बना दी थीं। और उसके कन्धों को भी झुका दिया था।

मैंने अपनी तरंग में पूछा, "तुमने कभी बढ़िया सिगरेट पिया है?"

"हमें कभी सिगरेट नहीं मिला बाबूजी, हम तो बीड़ी..."

मैंने पनवाड़ी से कहा, "क्रेवन-ए, की एक डिबिया बुढ़िया को दे दो।"

जी वह तो मेरे पास नहीं।

"अच्छा तुम्हारे पास जो बढ़िया सिगरेट है उसकी एक डिबिया इस बुढ़िया को दो।" और बुढ़िया से मैंने कहा, "देख रे माई एक-एक सिगरेट सबको बाँट देना। बेच न देना। मैं देख रहा हूँ!"

"जी नहीं!" और वृद्धा चली गयी।

मेरे जी में आयी कि मैं जाकर उन सबको सिगरेट पीते देखूँ। उनसे और विशेषतया उस नौजवान भिखारिन से बातें करूँ, किन्तु मुझे कुछ अजीब-सी शर्म महसूस होने लगी और मैं चला आया। घर आकर मैंने माँ से कहा कि पैसे नहीं मिले और नौकर को रुपया देकर बाज़ार भेज दिया।

उस रात जब मैं सोया तो भिखारिन का सम्पूर्ण स्वप्न मेरे सामने दौड़ गया—भरा पेट, सिर छिपाने की जगह, और एक बीड़ी ! फिर धीरे-धीरे इस स्वप्न पर मेरा अपना स्वप्न छाता गया—तीन लाख का, कभी पूरा न होने वाला, स्वप्न !

·

यह अजीब बात है कि उस रात पहाड़ की सुरम्य घाटी में मैंने जो 'नीड़' बनाया उसमें मेरे साथ प्रेम करनेवाली, भोली-भाली, सुन्दर लड़की की शक्ल कुछ उस नौजवान भिखारिन से मिलती-जुलती थी।

नजिया

पहले की तरह शनि की रात को राय तारा चन्द के दीवान-ख़ाने पर जमाव हुआ। शुष्क क्लर्कों के नीरस जीवन में यही रात होती है, जिस में वे जो चाहें कर सकते हैं। ताश खेल सकते हैं, शतरञ्ज की बाज़ी लगा सकते हैं, सिनेमा या थियेटर जा सकते हैं, नहीं तो बारह घण्टे सो ही सकते हैं। इतवार को छुट्टी होती है। समय पर उठने और शीघ्र-शीघ्र तैयार होकर दफ़्तर जाने की जल्दी नहीं होती, इसलिए अपनी-अपनी रुचि के अनुसार जी बहलाने का सामान कर लिया जाता है।

'बस्ती दानिश मदां' के चन्द ख़ुशदिल क्लर्क इस रात राय तारा चन्द के दीवानख़ाने में इकट्ठे होते थे। प्रत्येक शनिवार को कोई न कोई नया प्रोग्राम हुआ करता। उस रोज़ चाय के दौरान में कुछ इस तरह की बात चली कि सबने अपने जीवन की एक न एक महत्त्वपूर्ण घटना सुनानी आरम्भ कर दी। राम रत्न 'हसरत' अभी तक चुपचाप चाय की प्याली मुँह से लगाये चुस्की ले रहा था। शायद वह औरों की कथायें न सुन-

कर अपने ही अतीत की किसी कहानी में उलझ गया था—बेचारा शायर, जो सिर्फ एक क्लर्क बन कर रह गया था! अपनी बारी आने पर प्याले की शेष चाय एक ही घूट में ख़त्म करके उसने एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ा और आरामकुर्सी पर पीछे को लेट गया। कुछ मिनट चुप रहकर वह उठा और बोला—

"शायद आप में से सबने अपने जीवन को किसी न किसी ऐसी घटना से सम्बन्धित करने का प्रयास किया है, जो वास्तविकता से बहुत दूर है; किन्तु मैं आपको अपने जीवन की एक सच्ची घटना सुनाऊँगा। जो केवल एक घटना है, किन्तु वह, जिसने मेरे जीवन के रुख़ को ही पलट दिया।"

यह कहकर उसने अपनी जेब से एक मैला-सा मुड़ा-तुड़ा काग़ज निकाला और अनजाने ही उसे अपनी दोनों उंगलियों में पकड़ कर हिलाते हुए बोला—

"यह नजिया का पत्र है जनाब— उस देश की रहने वाली नजिया का, जो अब स्वप्नों के अतिरिक्त कहीं दिखाई नहीं देता। वह देश, जहाँ दिल उड़कर पहुँचता है, मस्तिष्क कल्पना-लोक में जिस की सैर करता है; किन्तु पाँव पङ्खहीन हैं, वहाँ उड़कर नहीं पहुँच सकते। यह इराक़ की बात है—उस इराक़ की, जहाँ रोमान्स, प्रातःसमीरण की भाँति बिखरा हुआ है, जहाँ दिन उन्माद लाते हैं, रातें जादू फूँकतीं हैं और चाँद की चाँदनी में जिस के किसी निर्जन टीले पर बैठा मनुष्य अपने आप को दूर—बहुत दूर किसी मनोमुग्धकारी संसार में खोया महसूस करता है।"

'हसरत' कुर्सी पर आगे को झुका और कुछ क्षण चुप रहने के बाद बोला—

"नजिया का जन्म तो भारत में ही हुआ था; किन्तु उन दिनों वह बग़दाद में ही रहती थी। वह कैसे वहाँ पहुँची, यह मैं नहीं जानता मुझे तो इतना ही मालूम है कि उस के साथ मैंने कुछ देर उस दुनिया की

सैर की, जिसे मुहब्बत की दुनिया कहते हैं और वह सैर मैं आज तक नहीं भुला सका।

"लाम के खत्म होने में कुछ देर थी। सुलह की प्रसन्नता में अफ़सर भी कुछ बेपरवा हो गये थे। जिस तरह परीक्षा समाप्त होने पर छात्र कुछ देर के लिए परिश्रम करना छोड़ देते हैं और उन पर कुछ सुस्ती-सी छा जाती है, उसी तरह सेना में भी प्रमाद की लहर-सी दौड़ गयी थी। अनुशासन में कमी आ गयी हो, यह बात न थी; पर युद्ध और संघर्ष में जो चुस्ती आ जाती है, उसका पता न था और सेना के नियमों की रस्सी भी किसी क़दर ढीली हो गयी थी।

उन्हीं दिनों की बात है। सन्ध्या का समय था अँधेरी गलियों में लैम्प रोशन हो गये थे। मेरे कुछ साथी मुझ पर व्यंग्य के तीर छोड़ रहे थे। किन्तु मैं उन के तानों से बेपरवाह उस छोटे-से थियेटर की ओर जा रहा था, जहाँ नजिया अपने नृत्य से दर्शकों को मन्त्र-मुग्ध किया करती थी। यदि कहीं इस पिछड़े प्रांत में, ख़ासकर अपने नगर में, रात के समय मैं उस बाज़ार की ओर जाता, जहाँ नृत्य से फ़र्श थरथरा जाते हैं और मादक गीतों से वायु में कम्पन पैदा हो जाता है, तो मेरे साथी, मेरे रिश्ते-नातेदार मुझे तानों से छलनी बना देते; लेकिन वहाँ कोई रुकावट न थी और मैं अपने साथी जमील के साथ जा रहा था, उसकी एक तान, दिल में उथल-पुथल मचा देने वाली एक तान सुनने।"

'हसरत' ने चाय का दूसरा प्याला बनाया और एक घूंट पीकर फिर बोला—

"उसने अपने जीवन के अधिकांश दिन इराक़ में ही बिताये थे। उत्पन्न वह भारत में ही हुई थी और कुछ दिन यहाँ रही भी थी, इसलिए उसे स्वभावतया भारतीय गानों और नृत्य से दिलचस्पी थी। भारतीय सङ्गीत पर उसका उतना ही अधिकार था, जितना अरबी सङ्गीत और नृत्य पर। दोनों कलाओं में वह निपुण थी। वह अरब कैसे गयी और वहाँ से बग़दाद कैसे पहुँची? यह एक लम्बी कहानी है;

किन्तु वह क्यों वहाँ आयी, इस का एक उत्तर मेरे पास है और वह यह, कि शायद उसे मेरे मस्तिष्क से एक ग़लत ख्याल मिटाना था।

यह कह कर हसरत ने एक लंबी साँस ली और फिर बोला—

"मैं उस छोटे-से थियेटर में दाख़िल हुआ। विचित्र प्रकार का थियेटर था। मैं अगली पंक्ति में बैठा था। वह धीरे-धीरे स्टेज पर आयी—खूबसूरती, आकर्षण की एक जीवित मूर्ति। मैं उस की आँखों से आँख न मिला सका। निगाहें थीं कि बिजलियाँ गिराती थीं। अपनी जगह बैठा चुपचाप, अनिमेष दृगों से, उसके गोरे-गोरे पाँव और लाल-लाल एड़ियों को देखता रहा, जो ताल के साथ स्टेज पर थिरकती थीं। फिर कब नग़मे फ़िज़ा में गूंज उठे, कब वह मनोमुग्धकारी तान समाप्त हुई, मुझे कुछ ख़बर नहीं। हाँ, इतना याद है कि बीच में एक नाज़ुक सी पुतली, मूर्तिमान इन्द्र-धनुष-सी कोई नारी आँखों के सामने नाचती रही।

"जाती बार फिर हमारी निगाहें चार हुईं। मेरे साथ उस दृष्टि ने—उस प्रलयकारी दृष्टि ने—क्या किया, कह नहीं सकता। इतना जानता हूँ कि एक तीर था, जो दिल की गहराइयों में डूबकर रह गया। मैं और जमील चले आये। लेकिन दो नहीं, तीन। जमील के बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता। हाँ, मेरे साथ, उस की, नजिया की तसवीर अवश्य आयी।"

इस के बाद हसरत ने तनिक आवेश से कहना आरम्भ किया—

"उस दिन के बाद, प्रतिदिन मैं वहाँ जाता। रात की तारीकी में छिपकर चला जाता। अफ़सर मुझ से प्रसन्न थे। और यदि अप्रसन्न भी होते, यदि उन्हें पता भी लग जाता, तो मुझे कोर्ट मार्शल या बर्खास्त होने का डर नहीं था। मैं प्रतिदिन वहाँ जाता। थियेटर में नहीं, वह मुझ से अपने मकान पर, अपने ख़ास कमरे में मिलती, जहाँ धरती पर सुन्दर कालीन बिछे होते, दीवारों पर बहुमूल्य पर्दे लगे होते और जहाँ रोशनदानों से आनेवाली हवा कमरे की सुगंधि से

बोझल होकर झूम उठती। हम दोनों गई रात तक बैठे रहते और न जाने क्या-क्या बातें करते। उस की बातें मधु-सी मीठी, मदिरा-सी मादक और सरिता-सी बहनेवाली होतीं। मुझे यह सब कुछ स्वप्न जैसा लगता। किन्तु यह स्वप्न नहीं था, सब कुछ सत्य था। उसे मुझ से मुहब्बत थी। मेरे ही कारण उस ने नृत्य से हाथ खींच लिया था, थियेटर को प्रायः बन्द ही कर दिया था। उस ने भी एक दिन यह बात मुझ से कही और मैं स्वयं भी इसे जानता था।"

"और फिर एक शाम का ज़िक्र है," हसरत ने अपनी आवाज़ को धीमा करते हुए कहा—"मैं नजिया के साथ दजला नदी की ओर जा रहा था। नदी नगर के मध्य होकर बहती है, किन्तु नजिया का मकान उस से बहुत दूर था और हम वहाँ सैर को आया करते थे। सेनाएँ वापस भारत आ रही थीं। मेरी बारी भी शीघ्र आनेवाली थी। इन अन्तिम दिनों में मैं रात-भर उसके साथ रहता था। संध्या से ही वह मेरी प्रतीक्षा किया करती। मैं जाता, उसकी आँखें चमक उठतीं। मैं नहीं कह सकता उसे क्या मुझ से मुहब्बत थी, क्यों उसने मेरे लिए नृत्य छोड़ दिया था, क्यों वह कुछ बेपरवा-सी रहने लगी थी। इतना कह सकता हूँ कि मेरे साथ बातें करने में उसे भी आनन्द आता। वह भी बातें करते करते न थकती थी। चाँदनी रात थी और हम नदी की ओर जा रहे थे।"

हसरत ने प्याले में चीनी डालकर (क्योंकि वह पहले चीनी डालना भूल गया था) उसे हिलाते हुए कहा, "चाँदनी रात थी और हम नदी की ओर जा रहे थे। हम दोनों के दिलों में तूफ़ान हिलोरें ले रहे थे; किन्तु हम में से कोई भी उन्हें शब्दों में व्यक्त न कर पाता था।

"हमारे पाँव रेत में धँस रहे थे और वहाँ निशान बनते चले जाते थे। मनुष्य के हृदय में भी घटनायें अपने अदृश्य पैरों से कुछ चिह्न अङ्कित कर देती हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना होता है कि रेत में

बने हुए चिह्न मिट जाते हैं और हृदय के निशान आयु-पर्यन्त नहीं मिटते। हम चले जा रहे थे। दायीं ओर चाँद चमक रहा था और सामने दजला नदी सरसराती हुई चली जा रही थी।

मैंने कहा—"नजिया, क्या ही अच्छा हो, यदि हम आयु-भर इसी तरह चलते रहें।"

"और हमारे शरीर में कभी थकावट न आये", उसने मुस्कराते हुए सरलता से कहा "और यह चाँद इसी तरह चमकता रहे और नदी इतनी ही दूर होती चली जाय!" और एक पतली-सी लता की भाँति लहराती हुई वह मेरी ओर कुछ झुक-सी गई।

इसके बाद हम ख़ामोश हो गये और चुपचाप नदी के किनारे-किनारे चलने लगे। नगर बहुत पीछे रह गया था। वह नदी के किनारे एक ऊँची-सी जगह पर बैठ गयी। मैं भी उस के दायीं ओर बैठ गया। कुछ क्षण तक निस्तब्धता छायी रही, केवल ठण्डी वायु के झोंके उसके बालों से खेलते रहे। फिर उसने सहसा मेरा कन्धा थपथपाते हुए कहा—"हसरत, तुमने मुझपर जादू कर दिया है।"

"और तुमने मुझपर नजिया।" मैंने उसकी आँखो में आँखें डालते हुए कहा। हम देर तक एक-दूसरे को देखते रहे और मुसकराते रहे। फिर न जाने कैसे हमने बातें शुरू कर दीं और दीन-दुनिया को भूलकर उन्हीं में निमग्न हो गये। इस बीच में वह कई बार मुस्करायी। कई बार हँसी। उसकी वह हँसी शायद सारी आयु न भूल सकूँ। वह मीठी, मादक और मासूम हँसी मुझे फिर देखनी नसीब न हुई।"

हसरत ने फिर तनिक आवेश से कहा—"तुम कहोगे, नर्तकी और मासूम हँसी! मैं कहूँगा, हाँ! हँसती वह पहले भी थी, किन्तु पहले उसके ठहाकों में बनावट होती, वह सरलता और मासूमियत नहीं।

बातों-बातों में उसने अपने सिर को मेरे कन्धे पर रख दिया। मैंने अपनी बाह उसके गले में डाल दी। उसने अपने सिर से मेरे कन्धे को

तनिक-सा दबाते हुए कहा—"हसरत ! तुम मुझे भूल तो न जाओगे ?"

"क्या तुम मेरे साथ न चलोगी, नजिया ?" मैंने चौंककर पूछा।

"यदि ले चलोगे !"

"ले क्यों न चलूँगा ! तुम मेरे साथ चलना, अपने देश में, अपने हिन्दुस्तान में, जहाँ तुमने जन्म लिया है। तुम्हें उसकी याद नहीं आती, क्या ?"

उसने हसरत-भरे स्वर में कहा—"आती है हसरत ! किन्तु मैं वहाँ कैसे जा सकती हूँ ? क्या भारत का सभ्य समाज मुझे अपना लेगा ? कहाँ रहूँगी मैं भारत में जाकर ?"

मैंने कहा—"मेरे पास रहना—मेरी आँखों का तारा बनकर, मेरे दिल के मन्दिर की देवी बनकर !"

क्षण भर के लिए हमारे सिर एक-दूसरे से जा लगे। वह उसी तरह मेरे कन्धे का सहारा लिये बैठी रही। जैसे वह इन्सान न थी, सङ्गमरमर की मूर्ति थी।

हम उठे, वापस घर को चले। रास्ते-भर उसकी आँखें उल्लास और विषाद में डूबती उतराती रहीं। कभी उनमें प्रसन्नता झलक उठती और कभी गहरा अवसाद छा जाता। कभी वह मुझसे भारत के सम्बन्ध में प्रश्न पूछती और कभी चुप हो जाती। प्रसन्न वह शायद इसलिए थी कि वह मेरे साथ भारत आ रही थी। उसके हृदय में हिन्दुस्तान जाने की बड़ी इच्छा थी पर वह इस दशा में यहाँ न आना चाहती थी कि लोग उससे नफ़रत करें। उपेक्षित बनकर उसे यहाँ रहना स्वीकार न था। उसकी इच्छा थी कि नर्तकी होते हुए भी लोग उसका आदर करें। किन्तु हिन्दुस्तान में यह बात कहाँ ? इसीलिए उसका स्वाभिमान उसे यहाँ आने से रोकता था। अब जब मैंने उसे अपने साथ लाने का वचन दिया था, वह प्रसन्न हो उठी थी।

पर व्यथित वह क्यों थी ? इसका कारण मुझे मालूम न हो सका। मैंने उसे प्रसन्न रखने की कोशिश की। वह हँसी भी, उसने मेरी बातों

पर ठहाके भी लगाये; किन्तु मैंने महसूस किया, जैसे इस हँसी, इन ठहाकों के पीछे दुख कहीं छिपा बैठा है। जाते और आते समय की हँसी में काफ़ी अन्तर था, यह मैं भली भाँति समझ रहा था।

मैं अपने कैम्प में आ गया। रात-भर नींद न आयी। हवा में क़िले बनाते-बनाते रात बीत गयी। मेरी कल्पनाओं ने कई बार यहाँ बस्ती के बाहर हरे-भरे खेतों में शीश-महल बनाये और उनमें उसे लाकर रखा। कई बार उसके साथ अद्भुत स्थानों की सैर की। कल्पना-लोक में विचरते सवेरा हो गया। उठा तो सिर में हलका-हलका दर्द था। आँखें चढ़ी हुई थीं; किन्तु हृदय में उल्लास का समुद्र हिलोरें ले रहा था। मैंने नहा-धोकर कपड़े बदले कि जमील आ गया। हम दोनों उस दिन भारत की ओर आने वाले सैनिकों को विदा देने गये। उसी दिन हमारी वापसी का भी आदेश आ गया। अवसर मिलते ही भागा-भागा मैं नज्जिया के घर गया। वह बैठी थी। आशा के विपरीत उसका चेहरा कुछ उतरा हुआ था, किन्तु शीघ्र ही उसपर पहले का-सा उल्लास छा गया। हमने प्रोग्राम बनाया। मैं अपनी सेना के साथ आऊँगा और वह अपनी दासी के साथ। बम्बई पहुँचकर हम कुछ देर वहीं रहेंगे और फिर शेष जीवन यहीं बस्ती में आकर व्यतीत करेंगे। कहीं एकान्त में एक वाटिका लगा लेंगे और शान्तिपूर्वक वहाँ निवास करेंगे। कोई दो घण्टे हम भविष्य की सुखद कल्पनाओं में निमग्न रहे। जब मैं आने लगा, तो उसने मेरा कन्धा दबाकर कहा—"हसरत, तुम्हारे घरवाले पूछेंगे—यह कौन है, तो क्या जवाब दोगे ?"

"क्या जवाब दूँगा!" मैंने कहा, "कहूँगा यह बग़दाद के एक बड़े ऊँचे घराने की कलाकार है। बहुत पहले वह घराना हिन्दुस्तान मे चला गया था। अब सागर की बूँद सागर में आ मिली है।"

वह मुसकरायी, किन्तु उसकी मुसकराहट विवशता का पहलू लिये थी, जिस में व्यंग्य भी किसी न किसी कोने से झाँक रहा था। मैं उस समय इसका कारण न समझ सका, चला आया।

दूसरी सुबह इससे पहले कि मैं नजिया के घर की ओर जाता, मुझे यह पत्र मिला।"

हमने देखा, हसरत का मुख पीला हो गया था। उसने अंगुलियों में पकड़े हुए काग़ज़ को धीरे-धीरे हिलाया और बोला:—

"मैंने पढ़ा, लिखा था—

हसरत, तुम भी मुझे इस हैसियत से भारत नहीं ले जाना चाहते। तुम्हारे 'हृदय में भी एक ऊँचे घराने की युवती से विवाह करने की आकांक्षा है, एक नर्तकी के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं। तुम भी मेरे रूप से प्रेम करते हो, मेरी कला से नहीं; इसलिए विदा। तुम उत्तर में खड़े हो, तो मैं दक्षिण में; तुम ऊँचे घराने के चिराग़ हो, मैं एक छोटे वंश की शमअ। जाति ही का नहीं, विचारों ही का नहीं, हम-तुम में आकाश पाताल का अन्तर है। इस मुहब्बत को जीवन की एक साधारण घटना समझ कर भूल जाना।— नजिया"

काग़ज़ लपेटकर जेब में रखते हुए 'हसरत' ने लम्बी साँस ली और बोला—

"मैं उस दिन सेना के साथ न आ सका। रात को छिप कर उस ओर गया। उसके थियेटर में—देर से छोड़े हुए थियेटर में खूब रौनक़ थी। वह नाच रही थी, गा रही थी, शायद इस घटना को भुलाने का प्रयास कर रही थी।"

"मैं अन्दर नहीं गया।" हसरत ने अत्यन्त धीमी आवाज़ में कहा—"दजला के किनारे वहाँ जाकर रेत पर लोटा किया, जहाँ चाँदनी रात में हमने प्रेम के कुछ क्षण बिताये थे।"

चट्टान

सन्ध्या का सूरज, अस्त होने से पहले ही नीले-काले बादलों में छिप गया था, अन्धकार समय से पहले ही चारों ओर छा गया था और गगरेट के पहाड़ी पड़ाव में धुआँ देने वाले एक दो टीन के दिये टिमटिमाने लगे थे, जब पैदल चलता हुआ, थका हारा शङ्कर वहाँ पहुँचा।

सब से पहले उसने संक्षिप्त से बाज़ार के एक घटिया-से ढाबे पर जाकर किसी न किसी तरह पेट की आग बुझायी। फिर वह कहीं रात के लिए पनाह की तलाश में चल पड़ा।

यात्री इतने अधिक थे कि दोनों सरायों में तिल धरने को भी जगह न थी। अगनित लोग बाहर खुले ही में डेरे डाले पड़े थे, ईंटें रखकर चूल्हे जला लिये गये थे। तीखी ठण्डी हवा चलने लगी थी; शोले काँप रहे थे और घाटी से चीड़ के वृक्षों की सरसराहट शरीर में झनझनाहट-सी पैदा कर रही थी।

बेबसी की एक दृष्टि शङ्कर ने चारों ओर डाली। अपने तन पर

गर्म कपड़ों के अभाव का उसे ध्यान आया और अन्यमनस्क-सा घूमता-घूमता वह नीचे घाटी में उतर गया।

वहीं एक 'छन्न'* में उसे रात भर के लिए पनाह की जगह मिल गयी। कोई मास्टरजी थे, उन्हों ने वहाँ बच्चों के लिए एक स्कूल खोल रखा था, और विपन्न पहाड़ी लोगों के लिए एक छोटा-सा दवाखाना। नीचे बिछाने के लिए उन्होंने उसे एक चटाई दे दी और ऊपर को कम्बल .....और शङ्कर आराम से लेट गया।

लेट तो गया, किन्तु नींद उसे नहीं आयी। वह बहुत थक गया था, अथवा खाना ठीक तरह न खा सका था, या फिर जगह नयी थी, कुछ भी हो, वह सो नहीं सका। उठकर, कम्बल को गर्दन तक खींच कर, वह खिड़की में बैठ गया और वहीं बैठे-बैठे उस की आँखों के सामने उसके अतीत की समस्त घटनायें एक-एक करके घूम गयीं।

उन्हीं दिनों, जब वह छात्र था, अपने प्रान्त से योजनों दूर इस पंजाब में आ बसा था और फाके कर के, ट्यूशन पढ़ाकर और अवसर पड़ने पर सम्पन्न मित्रों के आगे हाथ फैलाकर शिक्षा के उच्च-शिखर पर पहुँचने का भरसक प्रयास कर रहा था। उसके मन में कहीं से वैराग्य की भावना उत्पन्न हो गयी थी—कामिनी-कञ्चन से उसका मन कुछ उदासीन हो गया था। यह उदासीनता उन कष्टों के कारण हुई, जो उसे शिक्षा-प्राप्ति के लिए उठाने पड़े; उस असमता को देखकर पैदा हुई, जो उसे अपने और दूसरे छात्रों के मध्य दिखाई दी, अथवा अंगूरों की दूरी ने उन्हें खट्टा बना दिया, कुछ भी हो, जब शास्त्री की डिग्री लेने के बाद उस ने मात्र अंग्रेज़ी में बी० ए० करके शिक्षा का दामन छोड़ा, तो वह शरीर से न सही, मन से वैरागी बन चुका था।

बी० ए० पास करने के बाद कुछ और करने की योग्यता न रखने

*छन्न=पहाड़ी झोपड़ी

के कारण वह भी दूसरे सहस्रों शिक्षित युवकों की भाँति आजीविका की खोज में निमग्न हो गया था। उन्हीं दिनों मायावती (अलमोड़ा) से छपी हुई स्वामी रामकृष्ण के उपदेशों की एक पुस्तक उसके हाथ लगी और कामिनी-कञ्चन की ओर से उसका मन और भी विरक्त हो गया था।

शिक्षा-प्राप्ति के बाद उसके मन में कभी कभी यह विचार सिर उठाया करता था कि अपनी समस्त बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करके, साहस और हिम्मत के साथ वह एम. ए., एम. ओ. एल. की डिग्री प्राप्त कर ले, किसी अच्छे से कालेज में प्रोफेसर बन जाये और इस प्रकार अपने उन साथियों की दृष्टि में ऊँचा उठ जाये जो उसे हेय समझते थे। पर उसने पढ़ा कि धन तो कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसकी प्राप्ति को जीवन का ध्येय बनाया जाय— जिसे प्राप्त करके उस पर गर्व किया जाय।

जब सन्ध्या होती है, जुगनू चमकने लगते हैं, तो उल्लास और गर्व से बयार की लहरों पर तैरते हुए वे कहते हैं— संसार को प्रकाशित करनेवाले हमीं तो हैं, किन्तु जब आकाश में तारे जगमगा उठते हैं तो उन्हें अपनी हीनता का आभास मिलता है—फिर तारों के मन में यही भ्रम आ बैठता है। वे समझते हैं कि संसार के अंधकार भरे मार्ग उन्हीं के दम से ज्योतिर्मय हैं। चाँद उनकी इस मूर्खता पर हँसता है और सृष्टि को ज्योत्स्ना से नहला देता है। "जगती को मैं ही आलोकित करता हूँ"-वह सोचता है, किन्तु तभी ऊषा क्षितिज पर मुस्करा कर सूर्य के आगमन की सूचना देती है और चाँद की दीप्ति मन्द पड़ जाती है—धन-सम्पत्ति की भी तो ऐसी ही गति है—हम अपनी सम्पन्नता पर गर्व करते हैं, किन्तु ऊँट जब पहाड़ के नीचे पहुँचता है तो मालूम होता है कि दूसरे सहस्रों ऐसे हैं जिनकी तुलना में हम भिखारी मात्र हैं—और फिर धन-सम्पत्ति से सब कुछ मिल सकता है, शान्ति तो नहीं प्राप्त हो सकती।

और कामिनी—वह सोचा करता था—प्रोफ़ेसर बन कर किसी शिक्षित और सुसंस्कृत सुन्दरी को अपनी संगिनी बनायेगा और कालेज की उन तितलियों को जो उसकी ओर भूल से भी देखना पसन्द न करती थीं, दिखा देगा कि वह उन से कहीं अधिक सुन्दर और शिक्षित संगिनी के योग्य है—(विवाह के लिए अबतक भी भारत में धन और पद की अधिक आवश्यकता है। इनके सामने ज्ञान और सौन्दर्य अब भी बाजी हार जाते हैं—उसने प्रायः अपने से कहीं अधिक काले कलूटे, पर सम्पन्न युवकों को सुन्दर बीवियाँ बग़ल में लिये घूमते देखा था) किन्तु उसने पढ़ा—यह नारी ही है जो मनुष्य को दास बना देती है। स्वच्छन्द पक्षी के पर झकझोर डालती है। जीवन की आवश्यकताओं को बढ़ाकर उसे झुकना सिखा देती है। और उसने सोचा—न, वह नहीं झुकेगा। वह स्वतन्त्र रहेगा। आकाश की ऊँचाइयों में स्वच्छन्द रूप से उड़ेगा और कंठ के भरपूर स्वर से मधुर-गान गायेगा।

खिड़की के बाहर घाटी तारीक थी। कभी-कभी किसी छन्न का कोई चिराग़ झिलमिला उठता था। बाहर देखना छोड़, शङ्कर खिड़की से पीठ लगाकर बैठ गया। कितनी देर से वह भटक रहा था और अभी उसे कितना भटकना शेष था ? और मंज़िल की ओर वह कुछ भी तो नहीं बढ़ा।

उसने मुँह पर भी कम्बल ले लिया और लेट गया। ऊपर बाज़ार में बैलगाड़ियों की चरमर-चख़-चूँ शुरू हो गयी थी। मनचले यात्री, जो सुबह होते-होते मंज़िल पर पहुँच कर ही आराम करना चाहते थे, मार्ग के आराम का मोह छोड़कर चल दिये थे। उसने एक दीर्घ-निश्वास छोड़ा। 'उसकी मंज़िल कहाँ है ?' उसने सोचा, 'वह तो कहीं भी न पहुँच सका !' न विश्वविद्यालय की सब से बड़ी डिग्री ले सका और न स्वतन्त्र रूप से आकाश की ऊँचाइयों में उड़कर मधुर गान ही गा सका।

कामनाओं को त्याग देने के सम्बन्ध में निर्णय कर लेना सुगम है, किन्तु इस निर्णय को कार्य-रूप में परिणत करना उतना सुगम नहीं।

और वैरागी बनने के बदले, उस ने द्वाबा के एक नये सनातन धर्म हाई स्कूल में नौकरी कर ली थी। नये, और फिर सनातनधर्म स्कूल में, इसलिए कि न वह ट्रेण्ड था और न सरकारी अथवा देर से जमे हुए स्कूलों में उसे आसानी से नौकरी मिल सकती थी। वह स्वयं लाहौर के सनातनधर्म कालेज का ग्रेजुएट था, इसलिए प्रिन्सिपल की सिफारिश से उसे वह जगह मिल गयी।

किन्तु सनातनधर्मी संस्थाओं में पैसे को जोड़-जोड़ कर रखना और दूरदर्शिता से खर्च करना कहाँ? साल में ही वह स्कूल बन्द हो गया।

शङ्कर भी स्वतन्त्र हो गया। किन्तु आकाश की ऊँचाइयों में वह फिर भी न उड़ पाया। आगे शिक्षा प्राप्त करने को उसका जी न चाहता था और वैराग्य के लिए जिस अभ्यास तथा पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता थी, वह उसके पास न था। आखिर उसने सोचा कि वह देश चला जायगा, किसी गुरु की तलाश करेगा, जो उसे ठीक मार्ग पर लगा दे। किन्तु जाने से पहले वह शिवालिक की पहाड़ियों मे चिन्तपुरनी के मेले को देखने का लोभ-संवरण न कर सका था।

और वह मेला देख आया था। होशियारपुर से पैदल चिन्तपुरनी गया था और वहाँ से पैदल वापस आया था। उसके पाँवों में पीड़ा थी, टाँगें थक गयी थीं और उसके मन में एक अज्ञात-सी बेचैनी की आग सुलग रही थी।

वह उठकर फिर बैठ गया और चुपचाप बाहर की ओर देखने लगा।

आकाश पर तीतर के परों जैसे बादल छाये हुए थे। और उनके पीछे से चाँद अपनी मद्धिम रोशनी को धरती के वासियों तक पहुँचाने का विफल प्रयास कर रहा था। किन्तु इस प्रकाश से यात्रियों को कुछ लाभ पहुँचता हो, यह बात नहीं— सामने दूर सड़क पर शङ्कर लालटेनों की टिमटिमाती हुई रोशनियों को मन्थर गति से चलते हुए देख रहा था।

उन में से कुछ पैदल चलने वालों के हाथों में थीं और कुछ बैलगाड़ियों के नीचे लटक रही थीं। जब एक रोशनी के बाद लम्बी पंक्ति में दूसरी रोशनियाँ दिखाई देतीं, तो शकर समझ जाता कि गाड़ियों के आगे-आगे एक व्यक्ति हाथ में लैम्प लिये चला जा रहा है। फिर ये रोशनियाँ एक-एक करके अन्धकार में खो जातीं—और इसी तरह बैल-गाड़ियों की आवाज़ें भी स्मृति के किसी दूरस्थ-प्रदेश से आने वाली आवाज़ों की भाँति मालूम होने लगतीं। फिर नयी गाड़ियाँ आतीं और नयी रोशनियाँ...लेकिन नीचे घाटी उसी तरह तारीक थी और चाँद ऊपर उसी तरह लहरों-सी बदलियों में मुस्करा रहा था।

शङ्कर ने एक लम्बी साँस ली। पाँवों की आहट पाकर वह चौंका। शायद दूसरे मेहमानों का प्रबन्ध करके मास्टर जी उधर से गुज़र रहे थे।

"नींद नहीं आ रही है क्या?" खिड़की के धीमे प्रकाश में उसे बैठे देखकर उन्हों ने सहानुभूति-पूर्ण तरल वाणी में पूछा।

उनके स्वर में कुछ ऐसी बात थी, जो दूसरों में अनायास ही सत्कार की भावना को जगा देती थी।

"जी नहीं,"—खिड़की से दृष्टि हटाकर और कुछ प्रकृतिस्थ होकर मुड़ते हुए उसने कहा—"नींद मुझे कुछ देर से आती है।"

उस समय मास्टरजी स्वय भी उसके पास ही कच्चे फर्श पर बिछी हुई चटाई पर बैठ गये।

मास्टरजी की बातों में कुछ ऐसा जादू था, उनकी वाणी और उनके व्यवहार में कुछ ऐसी सहानुभूति थी, कि एक सरल निरीह बालक की भाँति शङ्कर ने अपने जीवन के समस्त दुःख, सङ्घर्ष और असफलता को उनके सामने रख दिया।

उन्होंने उसे सान्त्वना दी।

शङ्कर चुपचाप उनकी बात सुनता रहा। उसने महसूस किया, जैसे उनका स्वर एक ठण्डे, मादक, हमदर्द, मरहम की भाँति उसके घावों पर लगता चला जा रहा है।

और तभी वहीं बैठे-बैठे उन्हों ने बताया कि किस प्रकार उन्हों ने स्वयं एक धनी-मानी घर में पैदा होकर इस कटुता का रसास्वादन किया है। पिता के सम्पन्न होने के बावजूद उन्होंने उनसे किसी प्रकार की सहायता नहीं ली, रिश्ते-नाता के लङ्गर को तोड़ कर वे अपनी जीवन-नौका को स्वयं ही खेते रहे—वे सरकारी नौकर रहे; अध्यापक, क्लर्क, एकाउण्टेण्ट, स्वयंसेवक बने; कई संस्थाओं के मन्त्री रहे; किसानों में उन्होंने काम किया; महात्मा गाधी के आश्रम में वे रहे; जेल भी दो बार हो आये और इस के बाद ही उन्हों ने मानवता की सेवा के साथ-साथ अपनी आत्मा की सेवा करने का भी निर्णय कर लिया।

"मैंने सदैव यह महसूस किया है," शङ्कर की पीठ को धीरे से थपथपाते हुए उन्होंने कहा, "कि जीवन में यदि कोई ऊँचा उद्देश्य नहीं, तो यह जीवन कुछ भी नहीं, एक ख़ाली-खोखली-सी चीज़ है और फिर अपनी आत्मा को जीवन की समस्त गन्दगी से साफ करके उस महान् निस्सीम शक्ति के साथ मिला देने से बड़ा उद्देश्य और कौन-सा हो सकता है?"

शङ्कर ने कभी-कभी अपने मन में सिर उठाने वाले सन्देह को प्रकट करते हुए कहा, "किन्तु यह तो सब कुछ त्याग देने, माया-मोह के जाल को तोड़ फेंकने के बाद ही सम्भव हो सकता है; पर यदि संसार में सभी संन्यासी......"

"मैं संन्यासी होने के लिए नहीं कहता," उन्होंने कहा, "संसार में रहो, किन्तु संसार के होकर न रहो—उस पहाड़ की भाँति, जिस के पाव पाताल के अँधेरे मे होते हैं, किन्तु जिस की चोटियां स्वर्णिम ज्योति से जगमगाती रहती हैं।"

"किन्तु"......किन्तु वह जो कहना चाहता था, उसके लिए उसे शब्द नहीं मिले।

उसके संकोच का कारण भाँप कर मास्टरजी बोले, "तुम शायद यह कहना चाहते हो कि यह सुगम नही, हाँ, यह सुगम नहीं, किन्तु

जो व्यक्ति एक बार संयम के पारस को छूकर सोना बन जाता है, वह यदि वर्षों धरती में दबा रहे, तो सोने का सोना रहता है।"

शङ्कर को उस रात नींद न आयी। मास्टरजी का एक एक शब्द उसके कानों में गूँजता रहा और जब उसकी आँख लगी, तो उसने अपने-आप को चट्टान बनते पाया –चट्टान, जिसपर माया-मोह की वर्षाएँ, आंधियाँ, तूफ़ान कुछ प्रभाव नहीं डाल सकते-उसने देखा, वह सुख-दुःख की परवाह न करके, गाव की रूखी-सूखी-रोटी पर संतोष कर, धरती पर सो, बालिगों को शिक्षा दे रहा है। फिर उसने अपने-आप को औषधियों का बैग लिये गांव-गांव घूमते देखा। फिर उसने अपने-आप को जेल में पड़े पाया, जहां कैदियों के अधिकारों की रक्षा के लिए उसने भूख-हड़ताल कर दी—उसे पीटा गया, उसे कोड़े लगाये गये—किन्तु वह स्थिर, अविचल, अटल बैठा रहा—चट्टान जो बन गया था वह !

लेकिन फिर उसने उसी चट्टान को बिजली की-सी तेजी से एक ढलवान पहाड़ी पर लुढ़कते हुए, नीचे सागर की उबलती हुई लहरों की ओर जाते पाया......

और उसकी आँख खुल गयी। उसका हृदय ज़ोर-ज़ोर से धक्-धक् कर रहा था। उसके मस्तक पर पसीना आ गया था। बाहर चीड़ के वृक्षों में हवा की सरसराहट कुछ और तेज़ हो गयी थी। चांद शायद थककर सो गया था, लेकिन शङ्कर जागता रहा।

यह ढलवान पहाड़ी भाभी थी और उबलती हुई लहरें थीं वासनाएँ–इसका पता शकर को बहुत देर बाद लगा।

भाभी, भाई साहब की पत्नी थी और भाई साहब कह कर वह मास्टरजी को ही पुकारने लगा था। दूसरी सुबह उसने अपने आप को

मास्टरजी के चरणों पर डाल दिया था और उन्होंने उसे तसल्ली दी थी कि चाहे उसे धन-सम्पत्ति तथा सुख-वैभव न मिलें, किन्तु मन की शान्ति उसे अवश्य ही प्राप्त होगी। और शङ्कर उनके पास ही रहने लगा था।

और पहले-पहल तो उसे यह शान्ति मिली थी। जब कभी वह भाई साहब के पास बैठा, जब भी उसने उनकी बातें सुनी, उसके मन को शान्ति मिली। उसे सदैव ऐसा आभास मिला, जैसे सन्तोष का एक निस्सीम सागर हिलोरें ले रहा है और उसमें वह जी भरकर डुबकियां लगा रहा है। हाँ, बाद की बात और है।

लोग भाई साहब को 'मास्टरजी' इसलिए कहते थे कि उन्होंने अपने ख़र्च पर पहाड़ी बच्चों के लिए एक छोटा-सा स्कूल खोल रखा था, लेकिन इस प्रकार तो वे डॉक्टर साहब भी कहलवा सकते थे और कुछ लोग तो उन्हें इस नाम से पुकारते भी थे। उनका वास्तविक नाम 'दीनदयाल' था और उसने भाभी से उनके सम्बन्ध में बहुत-सी बातें सुनी थीं।

उनके पिता सरकारी स्कूल के हेड मास्टर थे। काफ़ी सम्पन्न थे। किन्तु कॉलेज छोड़ने के बाद उनको पब्लिक सेवा की सनक (भाभी यही शब्द प्रयोग में लातीं) सवार हो गयी। कॉलेज भी तो उन्हों-ने इसी सनक के कारण छोड़ा। मेडिकल ग्रुप में अच्छे-भले पढ़ रहे थे। फ़र्स्ट ईयर की परीक्षा दी थी कि कांग्रेस का आन्दोलन आरम्भ हो गया। वे पढ़ाई छोड़ बैठे। फिर पिता ने मिल-मिला कर, समझा-बुझा कर, एकाउण्टेन्ट जनरल के दफ्तर में नौकर करवा दिया और लगे हाथों (उनके 'न न' करने के बावजूद) शादी भी करदी। लेकिन......

"नौकरी से त्याग-पत्र मालूम है, इन्हों ने कैसे दिया?" एक दिन खाना पकाते हुए भाभी कहने लगी, "न वहम न गुमान, बस सुन लिया कि त्याग-पत्र दे आये हैं और फिर त्याग-पत्र में साफ लिख आये

कि जिस सरकार ने हमें एक सदी से गुलाम बना रखा है, उसका पुर्ज़ा बनकर मुझे काम करना स्वीकार नहीं। जब लालाजी को (अपने ससुर को भाभी लालाजी कहकर बुलाती थीं) इस बात का पता लगा, तो उन्होंने सिर पीट लिया। वे थे सरकारी नौकर। उन्होंने बहुतेरा समझाया कि नौकरी छूट जायेगी। अफसर मुझे सन्देह की दृष्टि से देखने लगेंगे; लेकिन वे तो निर्णय करके उसे बदलने के दिन पैदा ही नहीं हुए। घर छोड़ गांधीजी के आश्रम में चले गये।"

इसके बाद भाई साहब ने जनता की सेवा के और बीसों काम किये। पिता उन्हें सारी उम्र समझाते रहे, लेकिन वे अपनी धुन में पागल-से रहे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति को उन्होंने अपना आदर्श बना लिया। फिर सामाजिक और राजनीतिक आज़ादी के लिए कोशिश करते-करते वे अपनी रूह की आज़ादी के लिए प्रयत्न करने लगे। उन्हीं दिनों उनके पिता का देहान्त हो गया। तब उनके हिस्से में जो रुपया आया, उसे बैङ्क में जमा कराने के पश्चात्, बच्चों को बोर्डिङ्ग में दाखिल कराके, वे 'गगरेट' आ रहे। योग-साधन का छोटा सा आश्रम उन्होंने खोल लिया। बैङ्क के सूद से बच्चों की शिक्षा का खर्च निकाल कर जो कुछ बचता था, उससे आश्रम का खर्च चलाने लगे, जिस में उन्होंने एक छोटा दवाखाना और स्कूल भी खोल रखा था। "ये तो मुझे भी वहीं छोड़ते थे," एक दिन भाभी ने उसे बताया, "लेकिन मैं रही नहीं, साथ ही आ गयी।"

लेकिन वहाँ आकर भाभी प्रसन्न हो, यह बात तो न थी। शङ्कर ने उसे कम ही हँसते देखा था। जब भी कभी वह हँसी थी, शङ्कर को उसकी हँसी में एक गहरी व्यथा और व्यंग्य साफ़ दिखाई दिया था। और फिर शङ्कर ने सुना था कि उसका दिल बड़ा कमज़ोर है। ज़रा-ज़रा-सी बात पर बेतरह धड़कने लग जाता है। फिट भी आते हैं और सिर-दर्द की आम शिकायत उसे रहती है। उसकी आँखों मे

कुछ ऐसी प्यास, कुछ ऐसी अतृप्ति रहती थी कि शङ्कर के हृदय में दया की हल्की-सी भावना जाग उठती थी।

लेकिन वह उसकी आँखों में कम ही देखता था। भाई साहब से उसने सीखा था—"नारी से बचने के लिए सदैव उसके चरणों की ओर ध्यान रखो। उसे सदैव मा के रूप में देखो।" वह ऐसा ही करता भी था। भाभी उसे सारे संसार की माता के रूप में दिखाई देती और दिल ही दिल मे वह उसके चरणों में झुक जाता और ऐसा करने से असीम शान्ति और आत्म-तुष्टि उसे प्राप्त होती थी। किन्तु ऐसे भी अवसर आ जाते, जब उस शान्ति और सन्तोष के पाँव डगमगा जाते......

भाभी पका रही थी और वह नीची नज़र किये रसोई घर मे बैठा खाना खा रहा था कि बात चल पड़ी सूखी रोटियों और पराठों के सम्बन्ध में। तब भाभी ने बताया कि भाई साहब के साथ निरन्तर अनचुपड़ी रोटी खाने के कारण अब तो उसे हज़म ही नहीं होते, किन्तु वह पराठे खाने की बड़ी शौक़ीन थी। सूखी तो दूर, वह चुपड़ी रोटी तक न खा सकती थी। अपने पिता की इकलौती सन्तान थी और उसके पिता इग्ज़ीक्यूटिव इञ्जीनियर थे। और फिर आँखें भरकर उसने उसे बताया था कि किस प्रकार उन की मृत्यु के बाद चचा ने, जो उनके खर्च पर ही विलायत से पढ़कर आये थे, उनकी बहुत-सी जायदाद सँभाल ली और किस तरह दादी ने भी चचा की सहायता की और किस तरह उसकी माँ को तङ्ग किया गया और किस प्रकार उसे पहला फ़िट आया।

शङ्कर ने आँख उठाकर देखा था। भाभी दुपट्टे से आँसू पोंछ रही थी। उसके मन में दया की एक हल्की-सी रेखा खिंच गयी, किन्तु उसके दुपट्टा हटाने से पहले उसने अपनी आँखें नीची कर लीं।

फिर एक दिन भाभी ने उसे बताया कि वह यों गुमसुम रहने वाली भी न थी। खेलने-कूदने, हँसने-हँसाने वाली लड़की थी। वह इस ज़ोर से ठहाका मारकर हँसती थी कि उसकी माँ को प्रायः उसे

झिड़कना पड़ता था—इस तरह हँसेगी तो ससुराल वाले तुझे घर से निकाल देंगे। उन्हें क्या मालूम था कि ससुराल जाकर उसके ठहाकों का सोता ही सूख जायेगा।...और एक व्यंग्य भरी मुसकान भाभी के ओठों पर फैल गयी थी।

शङ्कर निगाहें उठाये बिना न रह सका था, किन्तु भाभी उसकी ओर ही देख रही थी, इसलिए उसने अपनी दृष्टि पूर्ववत् उसके चरणों में जमा दी थी।

भाई साहब की सरगर्मियों, उनके त्याग, उनकी आध्यात्मिकता, जीवन के गहन दर्शन में भाभी को कोई दिलचस्पी न थी। प्रायः वह कहा करती थी—"लोगों की बला अपने सिर ले लेते हैं, बैठे-बैठाये मुसीबत मोल ले लेना अच्छी बात है क्या ?" और भाभी ने बताया था कि किस तरह जब भाई साहब होशियारपुर के एक नेशनल स्कूल के हेड मास्टर थे और वहाँ की कांग्रेस कमेटी के मन्त्री थे, तो एक लड़की उनके पास आ गयी थी। उनके पड़ोस में ही रहती थी। माता-पिता की मृत्यु और भाइयों की बेकारी और आवारगी के कारण बेबस थी और मामा उसे कहीं बेच देना चाहते थे। वह उनकी शरण में आ गयी थी। उन्होंने उसका विवाह न होने दिया। उसे शिक्षा देकर अपने पाँवों पर खड़ी होने योग्य बनाया। लोग भाँति-भाँति की बातें बनाने लगे। उनके चरित्र पर सन्देह करने लगे...और व्यंग्य तथा विषाद-भरी मुसकान से भाभी के ओंठ फैल गये—"इतनी देर हो गयी, मुन्नी के जन्म के बाद जो मुझे ही बहिन की भाँति समझते हैं, उन पर वह लड़की ही क्या जादू कर देती !......

और मुन्नी उनकी दूसरी लड़की थी और आठ वर्ष की थी।

शङ्कर ने झुकी हुई दृष्टि से भाभी की ओर देखा था। वह उसकी कमीज़ के बटन टाँक रही थी—उसके सुन्दर चेहरे पर असन्तोष की हल्की-सी छाया थी। आँखें थकी-थकी थीं और दोपहर की गर्मी से

कुम्हलाये हुए पत्तो की भाँति उसके ओंठ शुष्क और मुरझाये हुए थे......

शङ्कर के हृदय में दया का सागर-सा हिलोरें मारने लगा और उसका हृदय धक्-धक् कर उठा।

दूसरे दिन भाई साहब ने उसे फिर बताया कि उन लोगों के लिए, जो अपनी आत्मा को पूर्ण-रूप से स्वतन्त्र देखना चाहते हैं, कामिनी-कञ्चन की इच्छा को त्यागना अनिवार्य है। लेकिन दुनियादारों के लिए इतना ही यथेष्ट है कि वे दुनिया में रहते हुए दुनिया के होकर न रहें। वे धन-वैभव के मध्य रहें, किन्तु उन की लौ सदैव परमात्मा से लगी रहे। उस गृहस्थ के लिए, जो अपनी रूह को आजाद देखना चाहता है, यह आवश्यक है कि जब एक दो बच्चे पैदा हो जायँ, तो अपनी पत्नी के साथ भाई की भाँति रहे और सदैव परमात्मा से प्रार्थना करे कि वह उन दोनों को इस आध्यात्मिक जीवन के लिए शक्ति प्रदान करें।

शङ्कर कुछ कहने लगा था, लेकिन कह न सका।

भाई साहब बोले—"मैं जानता हूँ, तुम जो कहना चाहते हो। ऐसा करना कठिन है। लेकिन मैं तुम्हारे सामने बैठा हूँ। यह नहीं कि मैंने अपनी भावनाओं पर पूरा-पूरा क़ाबू पा लिया है। लेकिन मैंने इन आदेशों को शब्दशः क्रिया-रूप में परिणत करने का प्रयास किया है।"

और भाई साहब अब भी नियमित रूप से दो-तीन दिन एकान्त-वास करते थे।

लेकिन भाभी को इन दिनों ज़रूर ही कोई न कोई कष्ट हो जाता। दिल धड़कने लगता अथवा सिर में पीड़ा होती। शङ्कर को एक दो बार उनका सिर दबाना पड़ा था। कनपटियों पर तेल लगाना पड़ा था और एक दिन कनपटी सहलाते-सहलाते उसका हाथ गाल तक चला गया

था—नर्म गर्म गाल पर, और उसका हृदय धक्-धक् करने लगा था। और उसी समय सिर दबाना छोड़ वह उठ आया था। उसने अपने आपको कोसा था और निर्णय किया था कि अब कभी वह उनका सिर न दबायेगा। किन्तु एक दिन फिर भाभी को फ़िट आ गया। भाई साहब पूर्ववत् नीचे घाटी के एक सुन्दर, सुरम्य, शान्त स्थान में अपना दिन गुज़ारने गये हुए थे।

भाभी को फ़िट पहले भी आते— माँ के दुःख की बातें करते-करते, चाचा की कृतघ्नता का ज़िक्र करते-करते या फिर मनोहर—अपने ससुर के बड़े भाई के छोटे लड़के की याद आ जानेपर। उसकी हँसी, उसके मज़ाक, उसकी बातों, भाभी की फ़रमाइशों को पूरा करने के लिए उसकी उत्सुकता, उसकी हर अदा का ज़िक्र करते हुए भाभी रो पड़ती और उसे फिट आ जाता।

किन्तु इन दौरों, सिर-दर्दों अथवा दिल की बीमारी के इन हमलों में भाई साहब गम्भीरता से अपने काम में निमग्न रहते और जब कभी उनकी उपस्थिति में ही ऐसी-वैसी बात होने पर भाभी को फिर दौरा आ जाता, तो वे कभी न घबड़ाते जैसे यह भी उनके प्रोग्राम का एक भाग था। हाँ, रात का अध्ययन और प्रातः को चर्खा कातना वे छोड़ देते और भाभी के सिरहाने आ बैठते। इस ठण्डी तामीरदारी से भाभी को सत्य ही कोई लाभ होता हो, यह तो शङ्कर नहीं जान सका। लेकिन भाभी जल्द ही बिस्तर छोड़ देती और भाई साहब स्वयं खाना पकाने से बच जाते।

किन्तु उस दिन जब भाभी को फ़िट आया तो शङ्कर हैरान रह गया। शाम हो गयी थी और भाई साहब आये न थे। शायद इधर उधर किसी रोगी को देखने चले गये थे और वह अन्दर कमरे में दियासलाई लेने गया था कि उसने अँधेरे में किसी के सिसकने की आवाज़ सुनी।

पहले तो कमरे में अन्धकार देख कर उसने समझा था, भाभी अन्दर नहीं है और वह ताक से दियासलाई की डिबिया उठाने लगा

था, लेकिन उसी समय उसने सुना था, जैसे बिस्तर पर लेटा हुआ कोई सिसक रहा है।

"भाभी!"

सिसकियाँ और भी तेज़ हो गयीं।

"भाभी...भाभी!"

"हाय, मेरे दिल को कुछ हो रहा है..." और वे ऊँचे-ऊँचे चीख़ने लगी थीं!

"भाभी!" और वह बिस्तर के समीप चला गया।

"मेरा दिल...हाय मेरा दिल डूब रहा है!" और भाभी तड़पने लगीं।

शङ्कर के हाथ-पाँव फूल गये। उसने जल्दी से लैम्प जलाने का प्रयास किया, किन्तु तीन दियासलाइयाँ जलाने के बाद कहीं वह लैम्प रोशन कर सका।

लैम्प जला कर वह भाभी के पास आया। वह उसी प्रकार दिल पर हाथ रखे ऊँचे-ऊँचे चीख़ रही थी। इधर से उधर सिर मार रही थी।

ऐसा सख़्त फ़िट शङ्कर की उपस्थिति में भाभी को पहले कभी न आया था। एक बार जब उसे पहले दिल की तकलीफ़ हुई थी तो भाई साहब ने उसको स्पिरिट ऐमोनिया पिलायी थी। वह भाग कर भाई साहब के कमरे से दवाई की शीशी उठा लाया और एक चमचा उसने भरा।

"हाय मुझे अच्छी नहीं लगती!"—भाभी चीख़ी और उसने दाँत बन्द कर लिये।

और सब की सब दवाई उसके गाल पर होती हुई गर्दन पर बह गयी।

"न पियेंगी, तो आराम कैसे आयेगा?"-और शङ्कर ने दूसरा चमचा भरा।

लेकिन भाभी ने उसका हाथ झटक दिया। दवाई फिर गिर गयी और वह तड़पती रही।

इस बार शंकर ने लिहाफ उसके गले तक कर दिया। चारपाई पर बैठ कर उसके दोनों हाथ थाम लिये और उन्हें भाभी की छाती पर रख कर उनपर अपना घुटना रख दिया। चमच भरकर एक हाथ से भाभी का मुँह खोलकर उसने उसे दवाई पिला दी और फिर सँभल कर नीचे उतर आया। लेकिन इतने ही में उसके माथे पर पसीना आ गया और उसका दिल धड़कने लगा।

भाभी ने लिहाफ़ को हाथ से परे कर दिया। दवाई की कड़ुवाहट से एक-दो बार खाँसी और फिर हाथ से सीने को दबा कर उसी तरह चीख़ने लगी।

"अभी आराम आ जायेगा। दवाई को अन्दर तो जाने दो।" शङ्कर ने हकलाते हुए कहा। उसकी साँस फूल गयी थी।

"हाय मेरे दिल को दबाओ, मेरा दिल डूब रहा है!"

शङ्कर ने फिर लिहाफ़ को ऊपर करके भाभी के वक्ष को हाथ से दबाया...धक्...धक्...उसका दिल धड़क रहा था।

"और दबाओ।" जैसे भाभी को सुख मिल रहा था।

शङ्कर चारपाई के पास घुटनो के बल बैठ गया और उसने दोनों हाथ भाभी के दिल पर रख दिये। दबाते-दबाते वह इतना झुक गया कि उसका अपना सीना—धक्...धक्...करता हुआ सीना—भाभी के वक्ष पर बिछ गया।

भाभी को आराम-सा महसूस होने लगा। उसकी चीखें बन्द हो गयीं। अब वह सिर्फ सिसक रही थी।......

किन्तु शङ्कर का शरीर गर्म हो रहा था और उसका हृदय और भी ज़ोर-ज़ोर से धड़क रहा था। तभी भाई साहब आ गये।

शङ्कर हड़बड़ा कर उठा। पर भाई साहब ने शांति से आकर उस का स्थान सँभाल लिया और औषधि के प्रभाव से अथवा उनकी

उपस्थिति के कारण भाभी को भी आराम आ गया।

शङ्कर उस रात सो न सका। प्रतिक्रिया का तूफ़ान उसके अन्तर में तमाम रात उठता रहा था। भाई साहब की मूर्ति बार-बार उसके समक्ष आती रही—इस व्यक्ति ने इतने बड़े सुख को तिलाञ्जलि दी है, तभी कहीं आध्यात्मिक आकाश की ऊँचाइयों में उड़ सका है, तभी आत्मा को बन्धन-मुक्त कर सका है और वह स्वयं जरा-सा टुकड़ा आगे पाकर लपक उठा...किन्तु शरीर की आवश्यकताएँ......

और दूसरे दिन उसने अपने समस्त सन्देह भाई साहब के सामने रख दिये। शरीर की यौन-सम्बन्धी आवश्यकताओं का ज़िक्र करते हुए उसने पूछा कि दूसरे के शरीर को पाकर भी संयम को क़ायम रखना किस प्रकार सम्भव है?

भाई साहब हँसे थे—"काम-सम्बन्धी आवश्यकताएँ भी शरीर की दूसरी जरूरतों की-भाँति हैं। जिस तरह अभ्यास से हम शरीर की दूसरी जरूरतों को बस में कर लेते हैं उसी प्रकार इनको भी बस में किया जा सकता है। अपनी इच्छाओं और अभिलाषाओं को हम जितना बढ़ा लेते हैं, उतनी ही वे बढ़ जाती हैं, जितना घटा लेते हैं, घट जाती हैं। इच्छाओं-आकांक्षाओं की दुनियाँ में रहता हुआ भी मानव संयम और तप से उन पर अधिकार प्राप्त कर सकता है। वास्तव में उसे चट्टान बन जाना चाहिए—चट्टान, जो वर्षातप दोनों को समान रूप से सह सके। आवश्यकताओं का आधिक्य अथवा अभाव, कोई भी उसे अशान्त न कर सके।"

और 'चट्टान' और 'शान्ति' दो शब्द शङ्कर के मस्तिष्क में घूमते रहे थे और उसने निश्चय किया था कि वह चट्टान बन जायेगा। चट्टान जैसी अविचल शान्ति प्राप्त करेगा। अपनी कामनाओं पर अधिकार पायेगा। एक बार उनके आगे हथियार डाले कि मनुष्य उनमें फँसा... नहीं, वह ऊपर उड़ेगा, आकाश की ऊँचाइयों में।

लेकिन भाभी...वह जो असन्तोष की सुलगती हुई चिनगारी थी।

एक दिन भाई साहब पास के गाँव में रोगी को देखने के लिए गये हुए थे। शङ्कर अपने कमरे में दीवार से पीठ लगाये, खूटी से टँगी हुई लालटैन के नीचे बैठा अध्ययन में निमग्न था कि भाभी आ गयीं और फिर उसके पास ही बैठ गयीं। शङ्कर चुपचाप पुस्तक पढ़ता रहा, वह बैठी रहीं। फिर एक अंगड़ाई-सी लेकर वे वहीं चटाई पर उसके पास लेट गयीं।

शंकर ने कनखियों से एक बार उसकी ओर देखा। साड़ी का आँचल सिर से खिसक गया था। ब्लाउज़ का बटन खुल गया था। वक्ष कुछ नङ्गा-सा हो गया था।...शङ्कर ने आँखें हटा लीं। फिर पढ़ने का प्रयास किया। किन्तु पुस्तक के शब्द उसकी आँखों के आगे तैरने लगे। और फिर उसे काली लकीरों के अतिरिक्त कुछ दिखाई न दिया। और फिर उसके सामने पुस्तक भी न रही। रही केवल पास लेटी नारी के वक्ष की गहरी-सी, अँधेरी-सी लकीर, जो दिये के उस मध्यम प्रकाश में दो पहाड़ियों के मध्य किसी घाटी की भाँति दूर अँधेरे में गुम हो जाती थी।

शङ्कर ने फिर एक बार देखा। दो पहाड़ियों के मध्य अँधेरी सी उस घाटी की ओर। उसका अपना सीना धक्-धक् करने लगा। पुस्तक उसके हाथ से गिर गयी और उसकी दृष्टि सुडौल कूल्हों, पतली कमर और वक्ष के पहाड़ों के मध्य उस घाटी पर छिछलती हुई भाभी के मुखपर जाकर रुक गयी—भाभी निस्पन्द, निष्प्राण, अचेत-सी पड़ी थी। उसके ओठ सूखे हुए थे और उनकी पपड़ियों में आड़ी लकीरें पड़ी थीं।...वहीं, उन्हीं लकीरों पर उसकी निगाहें जम गयीं और उसने चाहा कि उन प्यासे ओठों को चूम ले। इस ज़ोर से चूम ले कि उन लकीरों में खून सिमट आये, और वह झुका...

उस समय भाभी ने आँखें खोल दीं। वही प्यासी-प्यासी उदास-उदास, अतृप्त कामना-भरी आँखें। उन्हीं में देखता हुआ, वह और झुका......

लेकिन वह रुक गया। वे लकीरें उसके सामने लोहे की रक्त-रञ्जित कीलें बन गयीं और उसने देखा कि वे कीलें चट्टान को छेदने का प्रयास कर रही हैं।

वह रुक गया। रुका और उठा। भाभी के ऊपर से गुज़रता हुआ, दरवाज़ा खोलकर वह निकल गया। तेज़-तेज़ चलने लगा और फिर भागने लगा। जैसे वह किसी हिंस्र पशु से, किसी विश्वग्राहिनी ज्वाला से डरकर भाग रहा हो...नङ्गे सिर...नङ्गे पाँव...रात की निस्तब्धता को भङ्ग करता हुआ...मटमैली चाँदनी को चीरता हुआ।

ठण्डक काफ़ी थी और हवा चीड़ के वृक्षों से टकरा कर चीख़ रही थी।

प्रभात ने शङ्कर को एक सख्त चट्टान पर बैठे पाया। उसके घुटनों तक मिट्टी चढ़ गयी थी। तलवों में छाले पड़ गये थे। एक पाँव में ठोकर लग जाने से नाखून थोड़ा-सा उड़ गया था। कदाचित् थक-हार-कर वह उस चट्टान पर बैठ गया था, कदाचित् ऊँघ भी गया था।

उसने आँखें खोलीं। दूर—दृष्टि की सीमा के अन्तिम बिन्दु पर पहाड़ियाँ छोटी होती-होती मैदान में मिल गयी थीं और वहाँ 'सुवां' चमक रही थी, जो इन पहाड़ियों का विनम्र अर्घ्य सागर के हुजूर में ले जाती थी और पार्श्व-भूमि में होशियारपुर के मकानों की धुँधली-सी छतें वृक्षों में दिखाई दे रही थीं। उसने अपना दायां हाथ शुष्क, बिखरे हुए बालों पर फेरा और टाँग पसार ली। उसका घुटना दर्द करने लगा और अगूठे में टीस भी जाग उठी। एक चकित-सी दृष्टि उसने चारों ओर डाली, जैसे वह इन पहाड़ियों को, चीड़ के विटपों से आच्छादित इन पहाड़ियों को, नये सिरे से देख रहा हो।

उसने बाया हाथ पसारा। एक नन्हा-सा पौधा उसके हाथ के नीचे मसलता-मसलता रह गया।

शङ्कर ने देखा—दृढ़ चट्टान की एक सिलवट पर ऊपर से कुछ

मिट्टी आ गिरी थी। हवा में उड़ता उड़ता कोई बीज भी कहीं से आ पड़ा था। नमी के कारण वह नन्हा-सा पौधा भी फूट पड़ा था। लेकिन चट्टान तो चट्टान थी...पत्थर...उसकी जड़ों को फैलने के लिए तनिक-सी जगह भी तो न देना चाहती थी और वह पौधा मुरझा रहा था और उसके पीले मुरझाये पत्ते कुम्हला रहे थे।

शङ्कर उठा और हैरान निगाहों से दोनों को देखने लगा और फर वहीं खड़े-खड़े उस चट्टान पर उसे किसी और चट्टान की रेखाएँ बनती हुई दिखाई दीं और उस पौधे के स्थान पर एक और दिन-प्रतिदिन मुरझाता, कुम्हलाता पौधा उसकी आँखों में घूम गया।

बदरी

जिस प्रकार वर्षा का पहला छींटा पड़ते ही पहाड़ी नालों में जीवन जाग उठता है और वे उत्फुल्ल होकर बह निकलते हैं, उसी भांति शिमला का मौसम शुरू होते ही पहाड़ी पगडंडियों मे जान पड़ जाती है। पहाड़ी लोग पुरानी पगडंडियों को उनका अस्तित्व वापस देने, नई लीकें निकालते, शिमला की आबादी बढ़ाने लगते हैं।-उन दिनो शिमले पर यौवन आ जाता है, शिशिर के हिम से सिकुड़ा हुआ शिमला अप्रैल-मई की जीवन-दायिनी धूप से खिल उठता है। परन्तु जहा इस मौसम में शिमले में उल्लास खेलता है, वहा पहाड़ी देहात में उदासी छा जाती है। पहाड़ के युवक रोटी कमाने की धुन में शिमले को चल पड़ते है, पिता-पुत्र, भाई-बहन, प्रियतम-प्रेयसी एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। देहात की रूह उनके साथ ही चली जाती है. शिमले का जीवन उन देहात की मृत्यु बन जाता है।

अप्रैल का शुरू था। मैदान की गर्मियो से बचने के लिए शिमले के ठंडे और मनोमुग्धकारी वातावरण में आश्रय लेने वाले सरकारी

दफ्तरों का आगमन आरम्भ हो गया था। चारों ओर जीवन के आसार दिखाई देने लगे थे। मानों मृतक में फिर से जान पड़ रही थी।

शोली के ग़रीब पहाड़ी भी अपने सम्बन्धियों से जुदा होकर आगामी शीत के लिए कुछ धनोपार्जन करने जा रहे थे। अकेले। शिमले में कुटुम्ब कहाँ साथ जा सकता है? वहां का किराया ही इस बात की आशा नहीं देता। पुरुष तो ख़ैर कहीं भी पड़कर काट लेते हैं, पर स्त्रियाँ और बच्चे! उनके लिए तो घर चाहिए। इसलिए सब भरे दिलों के साथ जुदा हो रहे थे। बाप अपने बच्चों को हँस हँस कर प्यार करता था, पर उसकी आंखों में आंसू छलक रहे थे; पति पत्नी से मुसकराता हुआ विदा ले रहा था, पर सीने पर पत्थर रखे हुए! किन्तु दूसरी ओर यह दशा न थी, वहां विषाद में भी प्रसन्नता की एक हलकी सी रेखा विद्यमान थी। स्त्रियां रोती थीं, तो भी प्रसन्न थीं कि उनके पुरुष उनके लिए ही सुख का सामान जुटाने जा रहे हैं। पहाड़ी युवतियों की आंखों से आंसू प्रवाहित थे, पर हृदय ख़ुश थे कि यह कुछ दिनों की जुदाई स्थायी प्रसन्नता साथ लायेगी। उनके प्रेमी इतना धन जमा कर लायेंगे कि उनके मा-बाप से उन्हें मांग सकें। बच्चे भी मचलना चाहते थे, रोने के लिए उतावले हो रहे थे; पर ओंठों को सिये हुए चुप थे, क्योंकि यदि वे रोयेंगे तो उनके पिता उनके लिए खिलौने न लायेंगे, मिठाई न लायेंगे!

शोली ख़ाली हो रहा था। कल बिरजू गया, आज पिरथू गया। सब जा रहे थे। केवल वे ही घर पर थे जिनके शरीर में ~~मेहनत मज़दूरी~~ करने की शक्ति न थी। या फिर वे, घर पर जिनकी आवश्यकता थी। नहीं तो सब पहले पहले अच्छी जगह प्राप्त करने के विचार से भागे जा रहे थे। केवल बदरी अभी तक पहाड़ी पगडण्डियों पर ही भटकता दिखाई देता था। या नहीं गया था काशी। वह भी अभी तक गांव में ही मारा मारा फिर रहा था।

अपने रिश्तेदारों की नज़रों में वे दोनों बेकार घूम रहे थे। परन्तु वे

बेकार न थे, मुहब्बत के मैदान में घोड़े दौड़ा रहे थे। गत वर्ष बदरी बाज़ी ले आया था और अब के काशी।

बदरी घायल साप की भांति फुंकार रहा था और काशी विजयी योद्धा की भांति जामे में फूला न समाता था। एक की दुनिया स्वर्ग थी, दूसरे की नरक !

ऊँची ऊँची पहाड़ियों के दामन में नाला शोर करता हुआ बह रहा था, मानों अपने देवताओं के चरण धोकर जन्म सफल कर रहा हो। इधर-उधर फैली हुई झोंपड़ियाँ खिड़कियों की आखों से पानी की इस चञ्चल विनम्रता का नज़ारा कर रही थीं। सन्ध्या ने टेसू के रङ्ग का दुपट्टा ओढ़ लिया था और छोटी छोटी पहाड़ी गायें बस्तियों को लौट रही थी। दूर किसी जगह कोई अल्प वयस्क लड़का अपनी बासुरी में इन पर्वतों की भांति पुराना, पहाड़ी युवती के वियोग का करुण राग अलाप रहा था, जिसका भाव कुछ यों था :—

ऐ ब्राह्मण के लड़के शिमले न जा !
बेवफ़ा,
मेरी हसरतें खाक़ हो जाएँगी।
बेवफा;
शिमले न जा !

सूर्जू नाले के किनारे पत्थर पर बैठी थी। उसका सिर झुककर घुटनों से लग गया था। अन्यमनस्कता में वह छोटी छोटी कंकरियां नाले में फेंक रही थी। बांसुरी की मधुर और करुण ध्वनि उसके हृदय को द्रवित किये देती थी। धीरे धीरे अपने दिल में वह दुहरा रही थी—शिमले न जा, बेवफ़ा शिमले न जा !

काशी देर से झाड़ी में छिपा बैठा था, आज उसे भली भाति देख लेना चाहता था, मुद्दत से प्यासी अपनी आंखों की प्यास बुझा लेना चाहता था। वह उसे अपनी आंखो में बैठा लेना चाहता, अपने दिल

में छिपा लेना चाहता था। चाहे इसके बाद दिल की धड़कन ही बन्द हो जाय, आंखों की ज्योति ही बुझ जाय। आज सूजू एक बार सिर उठाये तो वह उसे जी भर कर देख ले। कौन जाने फिर यह मोहिनी मूरत देखनी नसीब हो या नहीं। अभी दिल के अरमान निकाल ले। मन की साध पूरी कर ले। सूजू के सामने उसकी निगाहें झुक जाती थीं। स्वामी की उपस्थिति में चोरी कर भी कौन सकता है? छिप कर लूट लेना भी सम्भव है।

कितनी देर तक वह इसी प्रतीक्षा में बैठा रहा, लेकिन सूजू ने सिर न उठाया, काशी की हसरत न निकली। छोटी छोटी कंकरियां नाले में गिरती थीं और किसी आवाज़ के बिना जल-प्रवाह में विलीन हो जाती थीं—उन अशक्त मनुष्यों की भाति जो किसी ध्वनि के बिना मृत्यु की बहिया में बहे चले जाते हैं।

आख़िर वह धीरे धीरे आगे बढ़ा और धड़कते हुए दिल के साथ उसने झुककर अपना हाथ सूजू के कंधे पर रख दिया। दो बहते हुए झरने उसकी ओर उठे और उसकी अपनी आंखों से नदियां प्रवाहित हो गईं।

"तुम रो रही हो सूजू!"

"तुम रो रहे हो काशी!"

और दोनों चुप हो गये। केवल एक दूसरे को देखते रहे। दूर कमसिन लड़का उसी तरह गा रहा था :—

ऐ ब्राह्मण के लड़के शिमले न जा!
बेवफ़ा,
परदेश में जा कर तू मुझे भूल जायेगा।
बेवफ़ा,
शिमले न जा!

सूजू ने काशी की ओर देखा, मानों वह इसका जवाब पूछ रही हो। बांसुरी वाले ने अपनी ऊँची, मीठी आवाज़ से फिर गीत

अलापा—

ऐ ब्राह्मण की लड़की घबरा मत !
मेरी जान ,
तुझे भूलना जी से गुज़र जाना है ।
मेरी जान ,
घबरा मत !

काशी ने सूजूं की ओर देखा। सुजूं को अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया।

और फिर दोनों अनायास लिपट गये, जुदा हुए फिर लिपट गये और इसके बाद छोटे छोटे पौधों और झाड़ियों में उलझते, पत्थरों से ठोकरें खाते चोटी पर बसे हुये गाव की ओर रवाना हो गये।

उस वक्त एक दूसरी झाड़ी से बदरी निकला—प्रतिशोध की साक्षात् मूर्ति। क्रोध के मारे उसकी आंखो में रक्त उबल आया था। वह, जिसे वह चिरकाल से अपने हृदय-मंदिर मे बैठाये पूजा करता था— वह, जिसे वह पा ही लेता यदि यह काशी बीच में न कूद पड़ता—वह आज उससे छिन चुकी थी। वह काशी की भाति रूपवान् न सही, पर इतना कुरूप भी न था। कभी सूजूं की प्रेमभरी दृष्टि उसकी ओर भी उठा करती थी। परन्तु उसमें काशी का सा साहस न था और प्रेम में साहस सफलता की पहली शर्त है। वह सूजूं की मेहरबान निगाहों को देखता था, उसके हृदय मे हलचल मच जाती थी, लेकिन वह चुप रहता था। फिर काशी आया। सूजूं ने उसे भी प्रेम से देखा। काशी ने उन मुहब्बत-भरी निगाहों का जवाब दिया और फिर आँखों ही आँखों में आँखों वाली को जीत लिया। अब कहीं काशी रास्ते से हट जाये, उस पर बिजली गिर पड़े, उसे मौत आ जाये, तो वह साहस से काम ले। वह सूजूं को जता दे कि वह उस से किस हद तक प्रेम करता है, साबित कर दे कि वह उसके लिए आकाश के तारे तोड़ ला सकता है, पाताल की गहराइयों में ग़ोता लगा सकता है !

लेकिन काशी...काशी...! उसने उन्मत्तों की भाँति इधर-उधर देखा और दाँत पीसते हुए बढ़कर उस झाड़ी को उखाड़ फेंका जिसके पीछे काशी छिपा बैठा था और फिर अपने बलिष्ठ हाथों से उस पत्थर को ढकेल कर नाले में फेंकने का प्रयास करने लगा जो कुछ देर पहले उन दोनों का आसन था।

अभी सूरज उदय नहीं हुआ था, और प्रभात का हलका अँधेरा समस्त विश्व को अपने दामन में छिपाये हुए था। पूर्व में प्रकाश की किरणें इस प्रकार तारीकी में मिल रहीं थीं जिस तरह विष के प्याले में अमृत। सबसे आगे काशी जा रहा था, उसके पीछे एक लड़का जोगू और फिर दस दस साल के दो कमसिन बच्चे थे। सब लम्बे लम्बे डग भरते जा रहे थे। आज शाम से पहले उन्हें शिमला पहुँच जाना है, इस विचार से सब तड़के ही शोली से चल पड़े थे। अँधेरे में उन्होंने चार कोस की मज़िल मार ली थी। पहाड़ी पगडंडी, कभी खड्ड की गहराइयों में गुम हो जाती और कभी पहाड़ की बुलन्दियों पर पहुँच जाती। कभी ऐसा प्रतीत होता जैसे आकाश से पाताल में धँस गये और कभी ऐसा दिखाई देता, जैसे पाताल से आकाश पर जा पहुँचे और फिर अगणित मोड़। जाते जाते सामने पहाड़ आ जाता और पगडंडी भी उसके साथ ही मुड़ जाती। लेकिन पहाड़ की परिक्रमा खत्म होते ही पगडंडी साफ दिखाई देती और मालूम होता कि अभी कुछ ही ऊपर उठ पाये हैं, इतना चक्कर यों ही लगा, मुश्किल से चौथाई फ़र्लाङ्ग फ़ासिला भी तय न किया होगा।

"सावधानी से"—काशी ने अपने पीछे आनेवालों से कहा और उस पगडंडी पर हो लिया जो पहाड़ और खड्ड के बीच टँगी हुई मालूम होती थी। एक व्यक्ति भी कठिनाई से उस पर गुज़र सकता था। सिर पर पहाड़, पैरों में भयानक गहरा खड्ड! यही पगडंडी जो दूर से सुन्दर सी लकीर प्रतीत होती थी, पास आने पर मौत और ज़िन्दगी का हद

दिखाई देती थी। इस खतरे के बावजूद यात्रियों को इसी पर से होकर शिमला जाना पड़ता था, दूसरे मार्ग से चार मील का अन्तर पड़ता था।

काशी के पीछे आने वाले लड़के क्षण भर को रुक गये। उन्होंने एक बार उस सिकुड़ी-सिमिटी लकीर जैसी पगडंडी पर निगाह डाली और फिर खड्ड को देखा, जो मुँह बाये इस तरह बैठा था, जैसे हर आनेवाले को निगल जायगा। फिर अनायास उनकी दृष्टि ऊपर उठी—पहाड़ जैसे मूर्तिमान् दर्प बना खड़ा था। उसे देखने पर खड्ड की दीनावस्था का पता चलता था। ऐसा महसूस होता था, जैसे वह मुँह खोले दया की भीख माग रहा हो। इस बीच मे काशी जड़ी-बूटियों का सहारा लेता हुआ पगडडी पर कई क़दम बढ़ गया था। साहस के साथ वे भी उसके पीछे हो लिये।

सब पौधों को पकड़ कर चलने लगे। अधिकांश मार्ग तय हो गया। कुछ ही पग रह गये थे। उस समय एक भयानक ध्वनि सुनाई दी। काशी के सिर पर एक बड़ा पत्थर लुढ़का आ रहा था। लड़के चीखकर पीछे हटने लगे। काशी विद्युत्-वेग से पीछे हटा, परन्तु उसका पाव फिसला और वह पौधे को पकड़े हुए खड्ड में लटक गया। एक चीख और पौधे की जड़ पत्थर की चोट से टूट गई। काशी कलाबाज़ियां खाता हुआ खड्ड मे जाने लगा और उसके पीछे वह भयानक पत्थर जिस तरह चूहे के पीछे बिल्ली।

लड़के रो रहे थे और सावधानी से पीछे को हटते जा रहे थे। उन्होंने एक और बड़ा पत्थर देखा जो पहले की सीध में लुढ़कता आ रहा था, परन्तु इस बार वे चीख़े नहीं। अब वे इसकी हद से बाहर थे। ज्यों-त्यों उन्होंने वह मौत की पगडंडी समाप्त की और रोते हुए वापस शोली की ओर भाग गये। उन्होंने वह ठहाका नहीं सुना जो पहाड़ के शिखर पर खड़े दीवाने बदरी ने लगाया। उस समय यदि उसे कोई देखता तो डर से कॉप जाता। उसके बाल शुष्क और बिखरे हुए थे; उसकी आँखें सुर्ख़ और डरावनी थीं, उसके ओठ फड़क रहे

थे और उसके चेहरे पर रुद्रता बरस रही थी। उसने सुख की सेज में खटकने वाले काँटे को निकाल दिया था। मुहब्बत के अखाड़े में वह बाज़ी जीत गया था और अपने प्रतिद्वन्द्वी को उसने चारो ख़ाने चित गिरा दिया था।

कल जब उसे मालूम हुआ था, काशी प्रातः शिमले को चल पड़ेगा, तब उसने अपनी चिर संचित प्रतिज्ञा को पूरा करने का फैसला कर लिया था, जो उसने एक दिन पहले इसी पहाड़ी-शिखर पर की थी। उस दिन वह मरने आया था वहाँ। सूर्जू की अवहेलना ने उसे इस हद तक निराश कर दिया था कि अपना जीवन उसे सर्वथा शून्य दिखाई देता था—! और वह उस शिखर से गिर कर अपने उस व्यर्थ की साँसों के कारागार को खत्म करने, उस शुष्क दुःखप्रद जीवन को नष्ट करने गया था! लेकिन अचानक उसके कानों में उसके पूर्वजों के कारनामे गूँज उठे थे। आख़िर क्या वह उन्हीं बलवान् पहाड़ियों की सन्तान न था जो मरना न जानते थे, मारना जानते थे। जिन्होंने बीसियों मुसाफ़िरों का सर्वस्व लूट कर उन्हें खड्ड की गहराइयों में सदैव के लिए गिरा दिया था। इस घाटी में एक बड़ा भारी जल-प्रपात था। उसे देखने के लिए दर्शक दूर दूर से आया करते थे। उसके सामने आया कि किस प्रकार उसके पूर्वजों में से कोई डाकू किसी मुसाफ़िर को पथ-प्रदर्शक की हैसियत से जल-प्रपात दिखाने लाया और किस प्रकार उसने उसकी पीठ में छुरा भोंक कर लूट लिया और उसकी मृतक-देह को गहरे खड्ड में गिरा दिया। इस दृश्य के सामने आते ही उसका हाथ कमर पर गया। लेकिन वहाँ छुरा नहीं था। अँगरेज़ों ने इन भयानक डाकुओं को कायर और डरपोक पहाड़िये बना दिया था। इन हिंस्र भेड़ियों को निरीह भेड़ों में परिणत कर दिया था। परन्तु उस दिन कहीं से बदरी में उसके पूर्वजों की निडर और उद्दंड रूह व्याप गयी थी और उस दिन वह फिर भेड़ से भेड़िया बन गया था और उसने प्रतिज्ञा की थी कि

वह मरने के बदले मारेगा, स्वयं खड्ड में गिरने के बदले अपने रकीब को वहाँ गिराकर अपनी प्रतिहिंसा की प्यास बुझायेगा। उस दिन वह जहाँ मरने आया था, वहाँ से मारने का प्रण करके लौटा था।

रात भर वह सो न सका था। तड़के ही काशी चल पड़ेगा, इस ख्याल से वह निशीथ-नीरवता में ही उठकर केवल एक चादर ओढ़कर हरिण की भाँति कुलाचें भरता हुआ यहाँ आ पहुँचा था। रात तो भला। चाँद का कुछ क्षीण-सा प्रकाश भी था, परन्तु यदि घटाटोप अँधेरा भी होता तो वह इस शिखर पर पहुँच जाता। प्रतिशोध की आँखें उसे अवश्य ही मार्ग सुझा देतीं।

आज वह अपने उद्देश्य मे सफल हो गया था, आज उसका प्रण पूरा हुआ था। वह वापस शोली को मुड़ा ताकि वह सूर्जू के दिल से काशी की याद को निकाल कर फिर से अपनी मुहब्बत के बीज बोये। परन्तु कुछ दूर जाकर वह फिर शिमला को पलटा। उसने सोचा काशी की मृत्यु का समाचार सुनकर सूर्जू उदास हो गयी होगी और अपने इस दुःख में उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखेगी। वह शिमला जायगा। समय को सूर्जू के घायल दिल पर मरहम रखने की इजाज़त देगा और इस बीच में इतना रुपया इकट्ठा कर लेगा कि वह सूर्जू पर उपहारों की वर्षा कर दे और उसे अपनी दौलत, अपनी मुहब्बत मे इस भाँति जकड़ ले कि यदि काशी फिर जीवित होकर भी आये तो उसे उससे न छीन सके।

यह सोचते-सोचते उसकी पशुता गम्भीरता में बदल गयी और वह चुपचाप शिमले की ओर चल पड़ा।

अप्रैल बीता, मई, जून, जुलाई, अगस्त बीते और सितम्बर बीतने को आया। शिमला का मौसम ख़तम हो गया। सरकारी दफ़्तर दिल्ली और लाहौर जाने लगे। मैदान की गर्मियों से तंग आकर शिमला की पनाह लेनेवाले शिमले की सर्दी के डर से फिर वापस मैदानों की ओर

चले गये। बदरी ने इस अरसे में बड़े परिश्रम से काम लिया। वह कुछ देर बाद शिमला पहुँचा था और उस समय किसी स्थाई जगह का मिलना मुश्किल था। लेकिन उसने साहस नहीं छोड़ा। जहाँ भी कहीं मज़दूरों की आवश्यकता हुई, वह पहुँच गया और फिर इस दयानतदारी से उसने अपना काम किया कि उसे आशा से भी अधिक मज़दूरी मिली। कभी वह रिक्शा-ड्राइवर बना; कभी कमेटी का मज़दूर; कभी उसने स्वास्थ्य-विभाग में काम किया तो कभी बिजली-कम्पनी मे और जब कोई काम न मिला तब स्टेशन से बाहर जाकर खड़ा हो गया और आने जाने वालों का सामान उठाकर अच्छे पैसे ले आया। उसके अंग ईस्पात हो गये। कई बार उसने इतना बोझ उठाया कि कश्मीर के हातो भी दंग रह गये। थोड़ी-बहुत मात्रा में उसने व्यापार भी किया। लोअर बाज़ार से आम मोल लेकर नफ़े पर रुलदू भट्टा, सांकली और भराड़ी में बेच आया। इस काम में उसे इतना लाभ हुआ कि जब तक आमों का बाहुल्य रहा वह यही काम करता रहा। जीवन में जिस स्फूर्ति की आवश्यकता होती है वह उसके पास थी और वह दिन-रात काम करके भी न थकता था। उसने खर्च बड़ी सावधानी से किया और अब उसके पास लगभग तीन सौ रुपये मौजूद थे। इस रक़म को देखकर उसका उत्साह दुगुना हो जाता था। वह प्रतिदिन इस बढ़ती हुई संख्या को देखता था और प्रतिदिन उसकी आशा-लता पल्लवित होती जाती थी। कभी जब रात को थक-हार कर वह अपने डेरे में खुरी धरती पर लेटता तो उसके सपनों की दुनिया सुनहरी हो जाती। इन सपनों में वह सूजूं से और सूजूं उससे प्रेम करती। वह उसकी मुहब्बत को जीत लेता, उसके दिल में काशी की याद को भुला देता और अपने उपहारों तथा उपकारों से उसे राज़ी कर लेता और फिर कहीं से नींद की परी आकर उसकी थकी हुई पलकों को सुला देती।

सितम्बर बीतने पर बदरी की उद्विग्नता इस हद तक बढ़ी कि उसके लिए शिमले में अक्तूबर का महीना काटना अत्यन्त मुश्किल हो गया।

अक्तूबर के पहले सप्ताह में ही उसने अपना जोड़ा-जत्था सँभाला, सूजू के लिए विभिन्न उपहार खरीदे और उन नये वस्त्रों से सजकर जो उसने वहीं सिलवाये थे, वह एक दिन शोली को चल पड़ा।

सन्ध्या का समय था। वह गाँव के समीप पहुँचा। जल-प्रताप के पास जाकर वह रुक गया। नाले के किनारों पर सूजू की गायें चर रही थीं। उसे यक़ीन था कि सूजू भी कहीं पत्थर पर बैठी पानी से अठखेलियाँ कर रही होगी। उसने देखा, तनिक दूर एक बड़ी झाड़ी के पीछे उसका दुपट्टा लहरा रहा है। निश्चय ही वह वहाँ बैठी हुई थी। उसका दिल धड़कने लगा। उसने पञ्जों के बल धीरे-धीरे चलना शुरू किया। परन्तु उससे चला न जाता था, उसके पैरों में कम्प पैदा हो रहा था। वह पीछे से जाकर उसकी आँखें बन्द कर लेगा। वह मचलेगी, तड़पेगी और वह हाथ छोड़कर उसके सामने शीशा, कंघी, रुमाल, इत्र की शीशी, बिजली का टार्च और दूसरे उपहारों का ढेर लगा देगा। उल्लास के मारे उसके पांव न उठते थे। उसी तरह चलता हुआ वह झाड़ी के समीप पहुँचा कि उसके कान में गाने की आवाज आयी। वह ठिठक गया। उसका सब नशा हिरन हो गया, उसमें आगे बढ़ने की शक्ति ही न रही। यह तो काशी की आवाज थी, यह तो वही गा रहा था। बदरी ने सुना, काशी की पुरानी परिचित स्वर-लहरी धीरे-धीरे वायुमंडल में बिखर रही थी—

बदरी ने एक-एक शब्द ध्यान से सुना। काशी गा रहा था। हां वही गा रहा था—अपना पुराना परिचित गीत। बदरी के दिल की गहराइयों से दीर्घ निःश्वास निकल गया। उसने उचक कर देखा। दोनों एक दूसरे के आलिंगन में बद्ध थे।

सूजू बोली—काशी, यदि बदरी तुम्हें मिले तो तुम उससे क्या सलूक करो?"

"उसने मुझे पत्थर गिराकर मारने का प्रयास किया था, खड्ड में लुढ़कते समय मैंने उसे पहाड़ की चोटी पर ठहाका लगाते देखा था,

परन्तु यदि तुम कहो सूज़ू, तो मैं उसे क्षमा कर दूँ।"

"कदापि नहीं"! सूज़ू ने कहा—"मेरा बस चले तो मैं उसे जीवित इस जल-प्रपात में फिकवा दूँ।"

काशी ने उसे अपनी भुजाओं में भींच लिया।

उस समय बदरी का सिर चकराया और वह सिर थामकर खोया हुआ-सा वहीं बैठ गया।

वह मेरी मँगेतर थी

सीपुर का अस्थाई बन्दीख़ाना—ब्लैक-होल (Black Hole) से कहीं अधिक भयानक ! गहरी खड्ड में एक छोटा-सा झोंपड़ा, उसमें एक भू-ग्रह, सील-भरा और अत्यधिक अँधेरा ! शीत उसमें इतना कि तन तो तन, मन-प्राण तक सन्न हो जायँ ! फ़र्श कच्चा दलदल-सा और पिस्सुओं के कुटुम्बों को सदा आश्रय देनेवाला !

इस भू-ग्रह के ऊपर की छत पर सिपाहियों के रहने की अस्थाई जगह थी और उस में; दरवाज़े के समीप, नीचे भू-ग्रह को जाने के लिए डेढ़ दो वर्ग गज़ चौड़ा तख़्ता था जो आवश्यकतानुसार उठाया और फिर रखा जा सकता था ।

इस झोंपड़ी-ऐसी हवालात की चौखट में एक चौकीदार बैठा था और बाहर से एक भंगी, काम करते करते थक कर आग तापने के लिए आ बैठा था । बातें चलने लगी थीं । विषय था उस युवक बन्दी की मूर्खता जो सीपुर का मेला देखने आया था और एक सिपाही से झगड़ने के कारण इस भू-ग्रह में बन्द कर दिया गया था ।

चौकीदार को उससे हमदर्दी थी। शायद उसे अपनी कोई पुरानी घटना याद हो आयी थी।

"भई, इस में न सिपाही का दोष है न इस युवक का," वह कह रहा था, "दोष सब बुरे दिनों का है। इसका भाग्य चक्कर में है। सच जानो हम पर भी एक बार ऐसी ही विपत्ति टूटी थी, और तब जो जो यन्त्रणाएँ हमें सहनी पड़ी थीं, उनकी कल्पना-मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं।"

भंगी ने, जिसका नाम गोविन्द था, समझ लिया कि चौकीदार अपने जीवन की कोई घटना सुनाने जा रहा है। उसने पांव भी आग के समाने पसार लिये और दत्तचित्त हो कर चौकीदार की कहानी सुनने लगा।

तनिक खाँस कर एक दीर्घ-निःश्वास लेते हुए चौकीदार ने कहना आरम्भ किया :—

"हाँ तो गोविन्द, मेरे साथ भी ऐसी ही दुर्घटना घटी थी और वह भी इसी मेले में। उस समय टिक्का साहब बहुत छोटे थे। अब तो उनकी आयु भी चालीस वर्ष की होगी और मैं त ो साठ सत्तर का हो चला हूँ। मेला तब भी खूब भरता था। यहाँ आने वाली युवतियों की संख्या भी अधिक होती थी और नाच रंग भी खूब होता था।

मैंने मेला कभी न देखा था। था तो मैं इधर ही का रहने वाला पर बचपन ही से अपने दादा के पास लाहौर चला गया था। वहाँ पन्द्रह वर्ष एक बाबू के यहाँ नौकर रहा, फिर उसने मुझे जवाब दे दिया। बात कुछ भी न थी। मुझ से कोई अपराध भी न हुआ था, पर मेरा आयु में बड़ा हो जाना ही मेरे लिए बुरा सिद्ध हुआ। वहाँ भले आदमी युवक नौकरों को घर में नहीं रखते। मैंने और दो एक जगह नौकरी करने का प्रयास किया और एक दो जगह मैं नौकरी पाने में सफल भी हो गया। पर मेरा मन न लगा। मैं अपने गाँव को लौट आया। मन उदास भी था और चंचल भी। इतने दिनों तक शहर के

पिंजरे में बन्द रहने के पश्चात् गाँव की स्वतन्त्रता में साँस लेने का अवसर मिला था, पर शायद मेरा मन पिंजरे में रहने का अभ्यस्त हो गया था। मुझे उस आज़ादी में भी नगर की याद आती थी। लेकिन गोविन्द, स्वतन्त्रता पाकर उसके गुण शीघ्र ही ज्ञात हो जाते हैं। मैं भी गाँव में आकर खिल उठा। निराशा की सब उदासी और बेचैनी दूर हो गयी। यहां ठंडे वृक्षों के नीचे, ठंडी-ठंडी वायु में, बाँसुरी बजाने मे वह आनन्द आता था जो लाहौर की सख्त गर्मी अथवा सख्त सर्दी में, स्वप्न में भी न आ सकता था। बांसुरी मुझे दादा ने सिखाई थी। लाहौर में उसे बजाने का अवसर ही न मिलता था और यहाँ गाने-बजाने के सिवा कुछ काम ही न था। मैं बाँसुरी में फूंक देता तो मीठी मद भरी तान दूर घाटियों में गूँज जाती।

गाँव में आने पर मुझे एक और बात का भी आभास हुआ। वह यह कि मैं अब किसी का नोकर नहीं, किसी की इच्छाओं का गुलाम नहीं, बल्कि सब बधनों से मुक्त स्वतंत्र व्यक्ति हूँ। हमारी थोड़ी-सी भूमि थी, उसको जोतना-बोना मैंने शीघ्र ही सीख लिया। लाहौर में मैं तुच्छ समझा जाता था, यहां मैं मरु का एरण्ड था। जिधर से गुज़र जाता, सब की नज़रें मुझ पर उठ जातीं। सब मुझे श्रद्धा की दृष्टि से देखते। सब मुझे अपने से बड़ा समझते। जब मैं गांव में आया तो घर घर मेरी चर्चा हुई। कई युवतियों की नज़रें भी मुझ से चार हुईं। मुझे इन निगाहों में प्रेम के सन्देश भी मिले। पर मन कहीं नहीं अटका। मैं अपनी खेती-बाड़ी में मग्न और बांसुरी के गानों में मस्त रहा।

ठिठुरता शीत बीता और प्राणों को गरमी देने वाला वसंत आ गया। मई का महीना था। इन दिनों शिमले में वर्षा नहीं होती। मई और सितम्बर ही के महीने हैं, जिनमे इधर की पहाड़ियों का आनन्द लिया जा सकता है। सूरज मे तनिक गर्मी आ जाती है और उसकी सुनहरी धूप से पतझड़ की सिकुड़ी हुई पहाड़ियाँ जिन्दगी की

अँगड़ाई लेकर खिल उठती है। इन दिनों मैं काम न किया करता था। खेती-बाड़ी का काम अपने बड़े भाई पर छोड़कर स्वयं ढोर-डाँगरों को लेकर निकल जाता। सारा-सारा दिन गायें चराता। सन्ध्या को दूध दुहता और संजौली जाकर उसे बेच आता। मुझे केवल प्रातः और सन्ध्या दूध दुहने और बेचने का ही काम करना पड़ता था। अन्यथा मैं सर्वथा स्वतन्त्र अपने ढोरों को चराता फिरता। थक जाता तो वृक्ष की घनी छाया में बैठकर बासुरी की तान छेड़ देता।

इन्हीं दिनों मूर्तू से मेरी भेंट हुई। सन्ध्या का समय था। मुझे कुछ देर हो गयी थी। इसलिए शीघ्र-शीघ्र क़दम बढ़ाता हुआ सँजौली को जा रहा था कि मुझे किसी ने आवाज़ दी, "भैया, तनिक ठहरना।"

मैंने पीछे मुड़कर देखा। पास के गांव से आनेवाली पगडंडी से एक युवती, कन्धे पर दूध के डिब्बे लटकाये, गले में धारीदार गबरून की कमीज़, उस पर जाकेट, कमर में काली सुथनी, पांव में ख़ाकी रँग का फ़लीट और सिर पर गुलाबी दुपट्टा बाँधे शपाशप बढ़ी चली आ रही है। उसकी नाक में छोटी-सी लौंग थी। उस शाम के धुँधलके में मुझे उसकी सूरत बहुत भली लगी—भोली-भाली सीधी-साधी। जब तक वह मेरे बराबर न आगयी, मैं उसे मन्त्र-मुग्ध-सा देखता ही रहा।

समीप आने पर ज्ञात हुआ, उसे भी दूध देने सँजौली जाना है और अँधेरा हो जाने से वह तनिक डर-सी रही है। सहम के कारण उसकी हिरणी की सी आँखें खुली थीं और जल्दी-जल्दी चलने से विशाल वक्षस्थल धड़क रहा था। मैंने उसे आश्वासन दिया और हम दोनों सँजौली की ओर चल पड़े। कुछ देर चुप चलते रहे। पर सन्ध्या का सुहावना समय, ठंडी-ठडी वायु, सुन्दर पहाड़ी दृश्य, मार्ग का एकान्त- कोई अकेला हो तो चुपचाप लम्बे-लम्बे डग भरता चला जाय। हम दोनों में धीरे-धीरे बातें चल पड़ीं। आरम्भ किसने किया, स्मरण नहीं, परन्तु सँजौली पहुँचते-पहुँचते हम घुल-मिल गये।

आते समय भी हम इकट्ठे ही आये। उसने कहा था—मैं दूध देकर नल के पास तुम्हारे आने की प्रतीक्षा करूँगी और जब मैं वापस फिरा तब वह मेरा इतज़ार कर रही थी। अँधेरा बढ़ चला था, हम निधड़क चलते आये। बातों में मार्ग की दूरी कुछ भी नहीं जान पड़ी। जो रस्ता पहले काटे न कटता था अब क्षणों में समाप्त हो गया और जब हम वहाँ पहुँच गये, जहा से हमे जुदा होना था, तो मेरा हृदय सहसा धड़क उठा। मैंने साहस कर के कहा—"अँधेरा अधिक हो गया है। मैं तुम्हें तुम्हारे घर तक छोड़ आता हूँ। फिर अपने गाँव को चला आऊँगा।" वह मान गयी। मैं उसे उसके घर तक छोड़ने गया। उसके घर के समीप हम जुदा हुए। उसकी आखों मे कृतज्ञता थी। अलग होते समय उसने धीरे से पूछा—"तुम रोज़ उधर जाते हो क्या?"

"हाँ।"

"और तुम?"

"मैं भी।"

बस इसके बाद वह पीठ मोड़कर अपने घर की ओर चल दी। मैं जरा तेज़ी से वापस फिरा, पर शीघ्र ही मेरी चाल धीमी हो गयी और मैं अपने ध्यान में मग्न चलने लगा जब चौंका तो देखा कि घर पहुँचने के बदले सँजौली के समीप पहुँच गया हूँ। फिर वापस मुड़ा। घर पहुँचा तो देर हो गयी थी। भाई को चिन्ता हो रही थी, मेरे पहुँचते ही प्रश्नों की बौछार उन्होंने मुझ पर कर दी। मैंने कहा—मेरा लाहौर का एक मित्र मिल गया था। उसका घर देखने चला गया था। आते-आते देर हो गयी। वे सन्तुष्ट हो गये।

गोविन्द, उस रात मुझे नींद न आयी। सारी रात उसकी हिरणी सी आँखें, उसकी सुन्दर सिलोनी सूरत, उसका सुडौल गुदगुदा शरीर, उसका पहाड़ सा वक्ष, उसकी मस्तानी चाल, उसका मधुर वार्तालाप, उसका सादगी से यह पूछना, "तुम रोज उधर जाते हो क्या?"— उसकी हर अदा मेरी आखों मे नाचती रही, उसकी हर बात

मेरे कानों में गूंजती रही। एक-दो बार मैंने अपनी परिचित लड़कियों से उसकी तुलना की। कोई असाधारण बात न थी उसमें। शायद उमसे भी अधिक सुन्दर रमणियाँ हमारे गाँव में थीं। पर; न जाने उसमें क्या था, उसकी आँखों में क्या जादू था, उसकी चाल में कौन मोहनी था, उसकी बातों में कैसी मिठास था? मैं दीवाना-सा हो गया। वह दिन मेरे समस्त जीवन की निधि है, जिसकी स्मृति आज भी मूक और नीरव-एकान्त में मेरी संगिनी होती है।

दूसरे दिन हम फिर उसी जगह मिले। मैंने उससे मिलने के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। अपने निश्चित समय पर चल पड़ा, तो भी हम उसी स्थान पर मिल गये। कदाचित् वह भी कुछ देर पहले चल पड़ी थी। पहले दिन की भाँति फिर हम इकट्ठे सँजौली गये, फिर मैं उसे घर तक छोड़ने गया, फिर उसी प्रकार उल्लास से वापस आया। हाँ, आज एक और बात का पता ले आया। वह भी दिन को अपनी गायें चराया करती थी, पर दूसरी घाटी में। दूसरे दिन मेरी गायें भी उसी घाटी की ओर जा निकलीं, जैसे अचानक। पहले वह तनिक झिझकी, परन्तु जब मैंने अपनी गायों को वापस मोड़ना चाहा तब उसने कहा—"इस घाटी में घास अत्यन्त अच्छी है।" मैं रुक गया, जा न सका। उससे अच्छी घास कहाँ मिलती? इसके बाद हम प्रायः रोज साथ ही गायें चराते, साथ ही दूध लेकर सँजौली जाते और साथ ही वापस आते। बाँसुरी का शौक भी उन दिनों कुछ बढ़ गया। रात को प्रायः मैं अपने इधर की पहाड़ी पर अपने घर के बाहर ऊँची-सी जगह बैठकर बाँसुरी बजाया करता। एक शब्द में कह दूँ, गोविन्द, मुझे उससे मुहब्बत हो गयी थी। जिस दिन मैं गायें लेकर पहले पहुँच जाता और वह देर से आती, उस दिन मेरे हृदय में सहस्रों आशंकायें उठने लगतीं। यही हाल उसका था। धीरे-धीरे हमारे प्रेम की बात गाँव में फैल गयी। मेरे भाई और उसके माता-पिता को पता चल गया। उन्होंने हमारी

सगाई कर दी। मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा, परन्तु मेरे इस सुख में एक दुःख का काँटा भी था। यह जानकर कि उसे मेरी पत्नी बनना है, मूर्तू ने मुझसे मिलना छोड़ दिया था। मैं व्यर्थ ही अब अपने ढोर लेकर उस घाटी में जाता, जहाँ वह अपनी गायें चराया करती थी। व्यर्थ ही उस चट्टान पर घंटों बैठा रहता, जहाँ हम दोनों बैठे गीत गाया करते थे, व्यर्थ ही रात को बाँसुरी बजाया करता। उसकी सूरत बिलकुल न दिखाई देती। दूध देने को अब उसका छोटा भाई जाता। मै उससे मूतू की बातें पूछा करता। कभी वह सरल, अबोध बालक मुझे उत्तर दे देता और कभी मेरी बातें उसकी समझ में न आतीं।

इसी प्रतीक्षा में कुछ सप्ताह बीत गये। लेकिन मेरी बेचैनी कम न हुई। मैं मूर्तू की सूरत तक को तरस गया, उसे देखने के लिए मेरे सारे प्रयास असफल हुए। दिन खिल उठे। हमारे विवाह की तिथि भी निश्चत हो गयी। परन्तु मेरे हृदय की बेचैनी नहीं घटी।

चौकीदार ने एक लम्बी सांस लेकर कहा—तुम पूछोगे गोविन्द, जब मैंने प्रेम के कई सुनहली प्रभात और सन्ध्याएँ उसके साथ गुज़ारी थीं और उसे अच्छी तरह देखा-भाला था और जब उसे मेरे घर आना ही था तो फिर उसे देखने की बेचैनी क्यो? मैं स्वयं ठीक ठीक इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता। वास्तव मे जिस दिन हमारी मँगनी हुई थी, उस रोज़ से उसने अपनी सूरत भी न दिखाई थी और मैं सगाई के पश्चात् उससे कई तरह की बातें करना चाहता था। यह बात जानने के बाद वह किस तरह की बातें करती है, किस प्रकार उसका मुख लज्जा से सुर्ख़ हो जाता है, किस तरह उसका स्वर काँपने लगता है, इन सब बातों का आनन्द लेना चाहता था और भावी जीवन के सम्बन्ध में पहले से ही कुछ बातचीत कर रखना चाहता था। पर उसने जैसे अपने घर से बाहर निकलने की सौगन्ध खा ली

थी। मैं लाख इधर-उधर चक्कर लगाता, लाख बाँसुरी में आने का चिरपरिचित सन्देश देता, पर वह आती।

उन्हीं दिनों में सीपुर का मेला आ गया। मेरी प्रसन्नता की सीमा न रही। मेले में वह अवश्य जायेगी, इस बात का मुझे पूरा विश्वास था और फिर कहीं रास्ते में उसे देख पाना और अवसर पाकर उससे दो बातें कर लेना असम्भव नहीं था। मैं कई दिन पहले से ही मेले की तैयारियों में निमग्न हो गया। दूध बेचने पर जो कुछ बचता, उसमें से भैया कुछ मुझे भी दे देते थे। शनैः-शनैः यह रकम जमा होती गयी और मेरे पास पचास रुपये हो गये। मैंने इनसे एक खाकी कोट और बिरजिस बनवायी, अच्छे-से बूट का जोड़ा खरीदा, अच्छी सी धारीदार गबरून की दो कमीजें सिलवायीं, दो रुमाल लिये, बारीक मलमल का बिजली रंग का साफ़ा रँगवाया और जब मेले के दिन इन सब वस्त्रों से सजकर पठानों की तरह मैंने कुल्ले पर नोकदार साफा बाधा और उसके तुर्रे का फूल सा बनाकर शीशे में देखा तो गर्व से मेरा सिर तन गया और चेहरा लाल हो गया।

रेशमी रुमाल को कोट के ऊपर की जेब में रखकर, कमीज़ के कालरों को कोट पर चढ़ाकर, हाथ में छोटा—सा चमड़े का हन्टर लेकर जब मैं मेले को रवाना हुआ तो गाँव के सब स्त्री-पुरुष मुझे निर्निमेष ताकते रह गये। मुझे देखकर कौन कह सकता था कि यह रोज़ सुबह-शाम दूध लेकर सँजौली जाने वाला ग्वाला है और इसका काम गायें चराना और उनकी सेवा करना है?

मार्ग में एक पानी की सबील थी। यों ही कच्ची मिट्टी और पत्थरों से तीन दीवारें खड़ी करके उन पर टीन का छप्पर डाल दिया गया था। छप्पर पर बड़े-बड़े पत्थर रखे थे, कि तीक्ष्ण वायु से वह कहीं उड़ न जाये। इस प्रकार बनी हुई वह कोठरी एक ओर से सर्वथा खुली थी। कोई किवाड़ इत्यादि भी नहीं था। इस ओर एक बड़ा सा पत्थर रखा था, जहां एक अधेड़ आयु की स्त्री पानी पिला रही थी।

यह मूर्तू के गांव की बुढ़िया तुलसी थी। अपनी चुस्ती और चालाकी के लिए वह आसपास के गाँवों में प्रसिद्ध थी। मैं उस सबील पर आकर रुका, प्रकट में कुछ सुस्ताने के लिए, परन्तु मेरी हार्दिक इच्छा वहा रह कर मूर्तू की बाट जोहना थी।

वह सबील सड़क के दाईं ओर केलू के वृक्षों के झुंड में बनी हुई थी। मार्ग के इस ओर कुछ निचाई थी। पहाड़ पर नीचे को सीढियाँ-सी बनी हुई थीं और गायों के इधर-उधर चलने से छोटी-छोटी सी पगडंडियां दिखाई देती थीं। मैं सबील के एक ओर मार्ग की ओर पीठ करके, नीचे को टांगे लटका कर बैठ गया। साफा उतार कर मैंने पास ही पड़े हुए पत्थरों पर रख दिया। परन्तु मुझसे-बहुत देर तक इस प्रकार बैठा नहीं गया। मैं तुलसी से कुछ बातें करना चाहता था। पानी पीने के बहाने उठा और वहां पहुँचा। पानी पीने ही लगा था कि उसने व्यग्य का तीर छोड़ा :

"पानी से प्यास क्या मिटेगी, चाहे मनो पानी पी जाओ। जिसे देखने की प्यास है वह अभी उधर से नहीं गुज़री।"

अब छिपाना व्यर्थ था। मैंने रहस्य-भरे स्वर से धीरे से पूछा—"आज मेला देखने तो जायेगी?"

"शायद।"

"सहेलियां साथ होंगी?"

"हाँ"

"फिर मैं कैसे उससे बात कर सकूँगा?"

"केवल देखने से प्यास नहीं बुझ सकती?"

"नहीं।"

बुढ़िया चुप रही।

मैंने गिड़गिडा कर पूछा—"तुम प्रबन्ध न कर दोगी?"

बुढ़िया का हँसता हुआ पोपला मुँह मेरी ओर उठा। उसकी आँखे चमकने लगीं। वह बोली—"कैसे?"

"मै वहाँ वृक्षों के झुंड में हूँ। तुम कह देना, तुम्हारी एक सहेली वहाँ तुम्हारी बाट जोह रही है। उससे मिल आओ।"

"नही, मै यह नहीं कर मकती।"

मैंने कुछ कहने के बदले जेब से एक रुपया निकालकर बुढ़िया के सामने रख दिया। उसने शायद अपनी सारी आयु में रुपया न देखा था। उसकी बाछें खिल गयीं। कहने लगी—"यह कष्ट क्यों करते हो? भेज दूंगी उसे। आखिर वह तुम्हारे ही घर तो जायगी।"

मेरा हृदय प्रसन्नता से खिल उठा। इतनी जल्दी यह काम हो जायगा, इसकी मुझे आशा नहीं थी? पानी पीकर मैं अपनी जगह आ बैठा और उसके आने की घड़ियाँ गिनने लगा। पाँव की तनिक-सी चाप भी मूतूं के आने का सन्देह जाग्रत कर देती और मेरी आँखें सबील की ओर उठ जातीं। परन्तु हरबार निराश होकर लौट आतीं। प्रतीक्षा के ये क्षण युगों से लगे। बार-बार देखता, बार-बार ताकता। कहीं रँगे हुए दुपट्टे की तनिक-सी झलक भी दिखाई देती तो हृदय धड़कने लग जाता। इतना ही अच्छा था कि जहाँ मैं बैठा था, वहाँ से मैं तो सबको देख सकता था, पर मुझे कोई देख न पाता था।

अन्त मे मुझे उसकी आवाज़ सुनाई दी। तुलसी उसे मेरी ओर आने के लिए कह रही थी और वह सुन्दरता-सी, सुषमा-सी, भोलापन-सी बनी पूछ रही थी। मेरा हृदय धड़क रहा था। कहीं वह अपनी सहेलियों को साथ लेकर ही न आ जाय और इस 'प्रतीक्षा करने वाली सहेली' का भेद न खुल जाय! पर नहीं, वह अकेली आयी। वायु में उसके सिर का दुपट्टा उड़ रहा था, चमकी का चमचमाता हुआ कुर्ता उड़ रहा था वह स्वय उड़-सी रही थी। मेरे समीप आकर वह भौंचक्की-सी खड़ी हो गयी और एक क्षण बाद स्वर्ण-स्मित उसके अधरों पर चमक उठी और वह वापस मुड़ने लगी। मैंने उसे पकड़ लिया और क्षणिक आवेश से उसे अपने प्यासे आलिंगन में लेकर उसके अधरों को चूम लिया। उसका मुख अरुण होकर रह गया और वह अपने आपको स्वतन्त्र

करने की चेष्टा करने लगी। मैंने अपना रेशमी रूमाल उसकी जेब में ठूँस दिया। वह भाग गयी। न मैं कुछ कह सका, न वह। कितनी बातें सोची थीं, कितने मनसूबे बाँधे थे, परन्तु अवसर मिलने पर एक भी पूरा न हुआ।

वह अपनी सहेलियों के साथ चली गयी। अपने मुख की लाली, अपने अस्त व्यस्त दुपट्टे, अपनी घबराहट का कारण उसने सहेलियो को क्या बताया था, यह मुझे ज्ञात नहीं। परन्तु उसके चले जाने के बाद मैंने साफा सिर पर रक्खा और वृक्षों के झुंड से बाहर निकल आया। मेरे ओठ अभी तक जल रहे थे और हृदय धड़क रहा था।"

चौकीदार ने एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ा और बोला—"गोविन्द, हमारा गाँव सँजौली और मशोबरे के रास्ते में है। सँजौली वहाँ से कोई दो मील होगी। सबील तनिक आगे थी। मैं तुलसी से बिना मिले ऊपर को चल पड़ा। सड़क पर पहुँचकर मशोबरे की ओर देखा। मूर्तू अपनी सहेलियों के साथ दूर निकल गयी थी। मैं सिर झुकाये चल पड़ा। मन-प्राण पर उदासी-सी छा गयी। उस समय मै इसका कारण न समझ सका, पर बाद का घटनाओं ने बता दिया कि वह उदासी अकारण न थी। मूर्तू से मिलने के पश्चात् मेरे मन में प्रसन्नता का जो तूफान आया था, वह उड़-सा गया। होना इसके विपरीत चाहिए था। लेकिन हुआ ऐसा ही। प्रसन्नता से तेज तेज़ चलने के बदले मैं धीरे-धीरे चलने लगा। ख्याल आया, कदाचित मूर्तू नाराज़ न हो गयी हो, कदाचित् वह मेरे इस दुस्साहस से रुष्ट न हो गयी हो। अब मेले में उससे आँखें कैसे मिला सकूँगा? दिल में चोर बस गया था और इच्छा होती थी, मेले में न जाऊँ, वापस गाँव को मुड़ जाऊँ। लेकिन नहीं, मुझे तो जाना था, मेरे दिल मे तो उसे एक नज़र देखने का लोभ बना हुआ था और इस लोभ को मैं किसी तरह संवरण न कर सका। चलता गया।

मेले में पहुँचते-पहुँचते मेरे सब सन्देह दूर हो गये। मूर्तु मुझे मेले से जरा इधर ही मिली। वे सब विश्राम ले रही थीं। प्रकट में ऐसा ही प्रतीत होता था, परन्तु मुझे ऐसा जान पड़ा, जैसे वह मेरी प्रतीक्षा कर रही थी। मुझे देखते ही मुस्करा दी। उसकी आँखें नाच उठीं। मेरा हृदय उल्लास से विभोर हो उठा। उसी समय मेरे गाँव का एक साथी मेरे पास से गुज़रा, मैंने उसे आवाज़ दी। वह वहीं खड़ा हो गया।

"किधर जा रहे हो?" मैंने ज़ोर से पूछा।

"मेले को," उसने उत्तर दिया।

"किधर रहोगे?"

"घूम-फिर कर देखेंगे।"

"हम तो भई वहीं वृक्षों के झुंड के पीछे डेरा लगायेंगे। उधर आ सको तो आना।" मैंने मूर्तु की ओर देखकर कहा। बातें मैं साथी से कह रहा था, पर संकेत मूर्तु को था। साथी चला गया, वह मुस्करा दी। उस समय वह चलने के लिए उठी। मैं शीघ्र-शीघ्र क़दम बढ़ाता सीपुर पहुँच गया।

वहाँ पहुँचा तो मेला खूब भर रहा था। मैं थका हुआ था। तनिक विश्राम करने का ठिकाना देखने लगा। आकाश पर बादल छाये हुए थे और मनोमुग्धकारी ठंडी हवा चल रही थी। मैं उस जगह के पीछे, जहाँ आज चाय का खेमा लगा है, जाकर बैठ गया। न जाने कितनी देर तक वहाँ बैठा कल्पनाओं के गढ़ निर्माण करता रहा। लाट अथवा किसी दूसरे पदाधिकारी के आने पर जब बाजों की ध्वनि वायु-मण्डल में गूंज उठी तब मेरी विचार-धारा टूटी। मैं अपने जाने मूर्तु की प्रतीक्षा कर रहा था। पर यह न सोचा कि जब उसे इस स्थान का पता ही नहीं तो वह यहा आयेगी कैसे? यह ध्यान आते ही उठा। इधर-उधर घूमता वहां पहुँचा, जहा स्त्रिया बैठी हुई थीं। मूर्तु एक सिरे पर बैठी थी। मैं उसके सामने से गुज़रा, पर उसकी आखें किसी दूसरी

ओर थी। मैं एक ओर हटकर खड़ा हो गया और इस बात की प्रतीक्षा करने लगा कि वह मेरी ओर देखे। उस समय मैंने देखा कि एक और पुरुष भी मूर्तू की ओर प्रेम-भरी दृष्टि से देख रहा है और इस प्रेम में वासना की पुट अधिक है। वह था कोटी का दारोगा। क्रोध और ईर्ष्या के कारण मेरी आखें लाल हो गयीं। परन्तु अपने आपको सँभाल कर मैं वहीं खड़ा रहा। उधर उस नर-पिशाच की निगाह बराबर मूर्तू के सुन्दर मुख पर जमी रही।

अन्त को मूर्तू की आंखें मुझ से चार हुई। मैंने उसे हाथ से आने का संकेत किया। उसने इशारे से मुझे स्वीकृति दी। कदाचित् दारोगा ने भी हमारी इशारेबाज़ी को देख लिया। दूसरे क्षण मैंने उसकी ओर देखा और उसने मेरी ओर। उसकी आंखों में ईर्ष्या थी, शायद द्वेष भी। मैंने इसकी परवाह न की और एक बार फिर मूर्तू की ओर देखकर उसके सामने ही वृक्षों की ओट में हो गया। कुछ ही देर बाद वह आ गयी—चंचलता, उल्लास, प्रसन्नता की जीवित मूर्ति! मैंने कहा—"मूर्तू, तुम तो दिखाई ही नहीं देतीं, ईद का चांद हो गयीं।"

"और तुम्हारा कौन पता चलता है? मैं उस झुंड के पीछे देखकर हार गयी।"

"पर मैं तो उधर था।"

"मैं कैसे जान सकती थी?"

मैंने उसका हाथ पकड़ लिया। कहा—"चलो छोड़ो इस झगड़े को। इन चार घड़ियों को बहस में क्यों खोयें?" हम वृक्षों की ओट में चले गये। समीप ही मेले में आये हुए व्यक्तियों का शोर कुछ स्वप्न-संगीत की भांति प्रतीत होने लगा। हम अपनी बातों में मग्न मेले और उसमें होनेवाले राग-रंग को भूल गये। उन कतिपय क्षणों में न जाने हमने भविष्य के कितने प्रासाद बनाये। वृक्षों की उस ठंडी छाया में, मदमत्त समीर में, उस लालसा-उत्पादक एकान्त में, मूर्तू मुझे

मूर्तिमान् सुन्दरता दिखाई दी और मैंने एक स्वर्गीय आनन्द से विभोर होकर उसे अपनी ओर खींचा। उसी वक्त हमारे सामने किसी की गहरी छाया पड़ी। मैंने चौंककर पीछे की ओर देखा। वही दारोग़ा ईर्ष्या और क्रोध से भरी आखों से मुझे घूर रहा था। मैं तनकर उसके सामने खड़ा हो गया। मूर्तू भी बैठी न रह सकी।

"इस औरत को किधर भगाने की कोशिश कर रहे हो ?" उसने मूर्तू का बाज़ू पकड़कर अपनी ओर खींचते हुए कहा।

मेरी आखों में खून उतर आया। मैंने कड़क कर कहा—"इसे हाथ मत लगाओ।"

"क्यों, तुम्हारे बाप की क्या लगती है ?"

"मेरी मँगेतर है।"

"चल मँगेतर के साले ! ज़रा राणा के पास चल ; सब पता लग जायगा कि यह तेरी मँगेतर है या आशना ? यहाँ मेला देखने आते हो या बदमाशी करने ?" यह कहते-कहते उसने वासना-युक्त दृष्टि मूर्तू पर डाली। वह खड़ी थरथर काँप रही थी। क्रोध के मारे मेरी बाहें फड़कने लगीं। मैंने एक हाथ से मूर्तू को उसके पंजे से छुड़ाया और दूसरे से एक ज़ोर का थप्पड़ उसके मुँह पर रसीद किया। उसने मुझे गाली दी और हंटर से प्रहार किया और सीटी बजाई। मुझे क्रोध तो आया हुआ ही था। मैंने हंटर उसके हाथ से छीन कर दूर खड्ड में फेंक दिया और कमर से पकड़ कर उसे धरती पर दे मारा।

एक चीख़ और बीसियों लोग उधर दौड़े पड़े। आगे-आगे कई सिपाही थे। आते ही उन्होंने मुझ पर हंटरों की वर्षा कर दी। मेरा युवा हृदय भी उत्तेजित हो उठा। यों चुपके से पराजय स्वीकार कर लेना उसे मंजूर न था। मैंने हमला करने वालों में से एक को पकड़ लिया और प्रहारों की परवाह न करते हुए उसे खड्ड में ढकेल दिया। फिर एक दूसरे की बारी आयी। उसे भी खड्ड में गिरा दिया। सिपाहियों ने सहायता के लिए सीटियाँ बजाईं। और लोग आ

गये। मुझ पर चारों ओर से प्रहार होने लगे। मेरे शरीर से रक्त बह निकला। फिर भी मैं उस समय तक लड़ता गया, जब तक बेहोश नहीं हो गया।

जब होश आया तो मैंने अपने आपको नीचे की हवालात में पड़े पाया। इस अँधेरे और एकान्त में मेरा दम घुटने लगा। मूर्तू के साथ क्या बीती, इस विचार ने मेरे मन को अधीर कर दिया। भूत में क्या हुआ और भविष्य मे क्या होगा, इन विचारों ने मेरे मस्तिष्क को घेर लिया। मेरा अंग-अग दुख रहा था, परन्तु मुझे अपने दुख की अधिक चिन्ता न थी। दुःख था तो मूर्तू की जुदाई का।

दूसरे दिन सिपाही मुझे राणा साहब के आगे पेश करने को लेने आये, पर मुझ से तो उठा न जाता था। तीन दिन तक इसी नरक में पड़ा रहा। फिर कोटी ले जाया गया। वहाँ तनिक आराम आने पर मेरा मामला पेश हुआ। मुझ पर मेले से एक स्त्री को भगाने का प्रयास करने और सिपाहियों को उनके कर्तव्य से रोकने तथा पीटने का अभियोग लगाया गया। शिकायत करनेवाला ही निर्णायक था। मुझे डेढ़ साल क़ैद की सज़ा मिली। मेरे भाई के सब उद्योग— सब मिन्नतें वृथा गयीं। वे मुझसे मिल तक न पाये।

चौकीदार दीर्घ-निःश्वास छोड़कर बोला—गोविन्द, शुक्र है उन्होंने मुझे काठ नहीं मार दिया, नहीं तो यदि वे यही दड देते तो कौन उन्हें रोक सकता था? इस डेढ़ वर्ष में मैंने जो कष्ट उठाये, वे अनिर्वचनीय हैं। यह समझ लो कि जब मैं डेढ़ साल के बाद अपने गाँव पहुँचा तो मेरा सगा भाई भी मुझे न पहचान सका। मैं कदाचित् डेढ़ साल बाद भी वहाँ से छुटकारा न पाता, यदि वह दारोगा वहाँ से रियासत के किसी दूसरे भाग में न बदल जाता। गाँव में आने पर मुझे ज्ञात हुआ कि मूर्तू भी उस मेले से नहीं लौटी। वह अवश्य ही उस दारोगा और

दूसरे कर्मचारियों की पाप-वासनाओं का शिकार बनी होगी। इस बात का मुझे पूरा निश्चय था और मेरा यह सन्देह सत्य भी साबित हुआ। जब एक साल पश्चात्, स्वस्थ होने पर, मैं लाहौर गया तो मैंने धोबी-मण्डी में मूर्तू के दर्शन किये। वह एक बहुत छोटे-से घिनोने मकान में रहती थी। मै उसके पास कई घन्टे तक बैठा रहा। उसने मुझे अपनी मर्मस्पर्शी कहानी सुनाई। किस भाँति उसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर दारोग़ा अथवा दूसरे कर्मचारियों ने उस पर अनर्थ तोड़े और किस प्रकार अपने अत्याचारों का भण्डा-फोड़ होने के भय से उन्होंने उसे छोड़ दिया ; किस प्रकार अपने सतीत्व को लुटाकर वह अपने गाँव में जाने का साहस न कर सकी और किस प्रकार पेट की ज्वाला ने उसे धोबी-मन्डी में आ बसने को बाध्य किया।

चौकीदार की आवाज़ भर्रा गयी। वह कहने लगा—"यह कहते कहते गोविन्द, वह रो पड़ी। मैं भी रोने लगा। मैंने उसे अपने साथ चलने को कहा, पर वह राज़ी न हुई। आते समय उसने मेरे सामने एक रेशमी रूमाल रख दिया और रोती हुई बोली—

"आज तीन साल से मैंने इसे सँभाल कर रखा है, परन्तु यह पवित्र रूमाल अब मुझ-सी अपवित्र नारी के पास नहीं रहना चाहिए। इसे अपनी नव-वधू को भेंट कर देना।

उसके स्वर में कुछ ऐसी दृढ़ता थी कि मैं उत्तर न दे सका और वहा से चला आया। दूसरे दिन वहाँ गया तो मूर्तू वहां से जा चुकी थी।

ऊपर कमरे में निस्तब्धता छा गयी। कदाचित् कंठावरोध के कारण चौकीदार चुप हो गया था।

कुछ क्षणों के बाद गोविन्द ने पूछा—तो आप इस नौकरी पर कैसे आये?

"यह बात पूछने से क्या लाभ? भाग्य का चक्कर था जो इधर ले आया।"

"फिर भी?"

चौकीदार ने धीरे से कहा—"अब तो बताने में कोई हानि नहीं। वास्तव में मैं उस नर-पिशाच दारोगा से बदला लेने की प्रबल-आकांक्षा से शिमले आया था। मेरे लिए मूर्त्तु ही सब कुछ थी। मैंने अपने जीवन में केवल उसी से प्रेम किया। इसके बाद मैंने विवाह भी नहीं किया। जिस दारोगा ने इस प्रकार हम दोनों को जुदा कर दिया, मैं उसे सस्ते दामों न छोड़ना चाहता था। परन्तु परमात्मा ने मुझे उस नीच के लहू से अपने हाथ रंगने से बचा लिया। मेरे आने के दो दिन बाद ही वह सड़क पर चला जा रहा था कि वर्षा के कारण पहाड़ का एक बड़ा सा-भाग टूट कर उस पर गिरा और वह अपनी पाप-वासनाओं को अपने साथ लिये सदा को संसार से चला गया। इसके बाद दिल में कुछ और आरज़ू ही न रही, इसलिए यहीं बना रहा।"

गोविन्द ने एक लम्बी साँस ली। बोला—"भाग्य के खेल हैं, चौकीदार जी! जिस प्रकार विधाता रखे, रहना चाहिए।"

बाहर सिपाहियों के मज़बूत जूतों की खड़खड़ाहट का शब्द सुनाई दिया और कई सिपाही कमरे में दाखिल हो कर सोने का प्रबन्ध करने लगे। गोविन्द उसी समय वहाँ से खिसक गया।

अंकुर

सग्गियाँ के पण्डित जयराम की लड़की सँकरी के मन में बचपन ही से जिस चीज़ की उत्कट लालसा पैदा हो गयी थी, वह सोने के आभूषण थे। उनमें भी सुनहरी कंगन तो जैसे उसकी आकाङ्क्षा की चरम-सीमा बन गये थे।

सग्गियाँ की ग़रीब देहातनों को चाँदी की बालियों, चूड़ियों, कड़ों, कंठों और ऐसे ही अन्य रजत-आभूषणों के अतिरिक्त किसी दूसरे अलंकार का ज्ञान भी न था, पर गाँव के साहूकार ला० शंकरदास की लड़की का विवाह, जब जालन्धर के एक धनाधीश के लड़के से हुआ तो गहनों में एक चीज़ आयी, जिसकी प्रशंसा सबने मुक्त-कंठ से की। वह चीज़ थी सुनहरी कंगन। उन दिनों बाज़ूबन्दों का भी रिवाज था और ढोलक पर गाती हुई लड़कियाँ 'जुत्ती सितारियों वाली' की तरज़ पर

> वे बन्द लै दे ! वे बन्द लै दे ! सोने दे—
> मावें तेरी पग्ग विक जाये !*

---

* ऐ मेरे मालिक मुझे बन्द ले दे, मुझे बन्द ले दे—सोने के बन्द ! चाहे तेरी पगड़ी बिक जाये !

भी गाया करती थीं, पर औसत दर्जे के मध्यवर्गीय, जो दहेज़ में दोनों गहने न रख सकते थे, कंगन ही बनवाया करते थे।

तब सगियाँ की देहातनों के लिए तो सभी गहने आँखें खोल देने वाले थे, पर कंगनों को देखकर तो आँखों के साथ उनका मुँह भी खुला रह गया। प्रायः सभी ने उन्हें हाथों में लेकर देखा—सोलह तोले से कहीं अधिक भारी होंगे। पाँच सौ से भी अधिक के! और सगियाँ की ग़रीब देहातनों के लिए ऐसे बहुमूल्य गहने देखना स्वप्न में भी दुर्लभ था, फिर क्यों न वे उन्हें एक बार हाथ में लेकर देखने का गर्व अनुभव कर लेतीं।

उन्हीं में अपनी माँ के साथ लगी खड़ी सेंकरी भी थी। उस समय उसे प्रबल इच्छा हुई कि वह भी एक बार उन भारी कंगनों को अपने नन्हें हाथों में लेकर देख ले, पर अपनी इच्छा को माँ के सम्मुख रखने का साहस वह न कर सकी।

माँ तो एक बार गहनों को देखकर फिर अपने काम में जा लगी। बारात को अभी आना था और उसे बहुत से काम करने शेष थे—बेचारी ग़रीब ब्राह्मणी, समय पर पुरोहिताइन के साथ साथ उसे महरी भी बन जाना पड़ता था। पर सेंकरी उसके साथ नहीं गयी। माँ और सखी-सहेलियों को छोड़कर, मोहित सी वह दीवार के साथ सिर लगाये खड़ी रही। उसकी दृष्टि वहीं आभूषणों पर जमी रही। जब जब गाँव की स्त्रियाँ उन आभूषणों को उठा-उठा कर देखतीं तो कल्पना ही कल्पना में वह भी ऐसा ही करती। यहाँ तक कि गहनों का स्पर्श तक उसे अपनी अँगुलियों में महसूस होता।

जब नव-बधू को उबटन लगाकर नहलाया गया और उसे गहने पहनाये गये तो सेंकरी की दृष्टि उसकी कलाइयों पर ही जम गयी।

तभी उसकी एक सहेली भागी भागी आयी और ईंट का छोटा-सा रोड़ा दिखाते हुए उसने कहा—देख मैं यह लाई हूँ, आ ढोलक बजायें! पर सेंकरी वहाँ से नहीं हिली।

बाहर बाजे बजने लगे और बारात की आमद-आमद का शोर मच गया। स्त्रियाँ और बच्चे सब छतों पर जा चढ़े और दूसरे क्षण विवाह के मीठे गान वायु के कण-कण में गूँज उठे।

सैंकरी वहाँ से नहीं हिली, बल्कि जब बधू अकेली रह गयी, तो वह सकुचाती सकुचाती उसके पास जा बैठी। चुपचाप घुटनों पर अपना सुन्दर मुखड़ा रखे बधू अपने पाँवों के मेंहदी-रँगे अँगूठे से धरती कुरेद रही थी। उसका ध्यान न जाने किधर था? शायद वह एक ही दिन में अपने लड़की से बहू बन जाने की बात सोच रही थी। अपनी कलाइयों पर जमी हुई सैंकरी की दृष्टि और उस दृष्टि की उत्सुकता को देखकर वह मुस्कुराई। सैंकरी की अँगुलियाँ, तब जैसे अनजाने ही में कंगनों को छूने का प्रयास कर रही थीं। दुल्हन ने हाथ ढीला छोड़ दिया और सैंकरी ने उन कंगनों को और उनके साथ की चूड़ियों को जी भर देखा और उसके हृदय का उल्लास उसके मुख पर प्रतिबिम्बित हो उठा।

तब दुल्हन हँसी। उसने इधर-उधर देखा और फिर मुस्कराते हुए बोली— *तुम्हारे विवाह में भी ऐसे ही कंगन पड़ेंगे।*

कहते हैं २४ घंटे में किसी न किसी क्षण प्रत्येक व्यक्ति की जिह्वा पर सरस्वती आ बैठती है। दुल्हन की ज़बान पर भी उस समय शायद सरस्वती ही आ बैठी थी। क्योंकि जब सैंकरी के विवाह में वर-पक्ष की ओर से आयी हुई साचक* के थालों पर से पतला हरा बुर्जी काग़ज़ उठाया गया तो गहनों के थाल में दूसरे स्वर्ण-आभूषणों के अतिरिक्त चमकते हुए भारी कंगनों की जोड़ी भी थी। देखकर सैंकरी मन में फूली न समाई थी। जब उसे उबटन मलकर नहलाया गया और उसकी कुन्दन-सी कलाइयों में कंगन डाले गये तो जैसे वे शरीर ही का अंग दिखाई

*साचक=वरनेत=वरी

देने लगे। सेंकरी की आयु उस समय केवल १३ वर्ष की थी, पर उसके स्वस्थ अंग जवानी से स्वर्ण-प्रभात में, सुगठित और सुडौल, साँचे में ढले हुए प्रतीत होते थे। कंगन उसकी कलाइयों में ऐसे फ़िट बैठे कि कुछ क्षण बाद सेंकरी को उनमें से एक को वहाँ से खिसकाना पड़ा। तब उसके स्थान पर रक्त इकट्ठा हो जाने से लाल-सी चूड़ी बन गयी। बहुत देर तक विमुग्ध-सी वह उसे देखती रही और फिर हाथों में पड़े, मंगल सूत्र की लम्बी लम्बी तारों में बँधे 'कलीरों' और नाक में पड़ी हुई बड़ी शिकारपुरी नत्थ को सँभालती-सँभालती वह उठी और जाकर सहेलियों को अपना एक-एक गहना, उसकी बनावट, उसकी जड़ाई और गढाई दिखाने लगी। तब रह-रह-कर उसे इच्छा होती—काश वह वधू, वह उनके यजमान शङ्करदास की लड़की भी वहाँ होती तो अपनी भविष्यद्वाणी के प्रभाव को देखती।

सेंकरी के उल्लास तथा कुतूहल को देखकर बड़ी बूढ़ियाँ अपने पोपले मुह लिये हुए हँसतीं और उसके भाग्य को सराहती हुई दुआएँ देतीं—भिखमंगे ब्राह्मण की लड़की इतने बड़े घर जा रही है, इतने धनी के घर! तो वे क्यों न उसके भाग्य को सराहें! पर गाँव की युवतियों को उसके भाग्य के प्रति कोई ऐसी ईर्ष्या न हुई थी। इतने बहुमूल्य सुन्दर गहने, उस दरिद्र ब्राह्मण की लड़की के अंगों में पड़े देख यदि किसी को जलन हुई भी, तो यह जानकर कि चारपाई पर चारपाई जा रही है और पचास वर्षीय दूल्हे की पहली पत्नी अभी बैठी है, उनमें से बहुतों ने मुँह बिचका-बिचका कर कह दिया था— संसार में सब कुछ गहने कपड़े ही तो नहीं होते!......

सेंकरी के पति पण्डित महेश्वरदयाल जालन्धर के प्रसिद्ध ज्योतिषी थे। उन्होंने ज्योतिष-विद्या कहाँ से सीखी, इस सम्बन्ध में तो कई तरह की बातें प्रसिद्ध हैं, कोई कुछ कहता है, कोई कुछ, पर प्रचलित कहानी

यह है कि वे 'पट-फेरा' करते थे, मतलब यह कि रँगने और कूटने के बाद रेशम की जो तारें आपस में उलझ जाती थीं, उनकी नये सिरे से गुच्छियाँ बनाते थे। किन्तु जापानी माल आने से जहाँ दूसरे घरेलू धन्धों को हानि पहुँची, वहाँ जालन्धर का यह प्रसिद्ध व्यवसाय भी ख़त्म हो गया। तब लाला लोगों ने तो सराफे और बज़ाज़ी की शरण ली, पर पंडितजी के लिए तो पुरखों के व्यवसाय का दरवाज़ा खुला था। कुछ सोये हुए यजमान जा जगाये, कुछ दबे हुए उखाड़ डाले, कुछ मुर्दा ज़िन्दा किये और धड़ल्ले से पुरोहिताई आरम्भ कर दी। इससे भी सन्तोष न हुआ तो एक दिन खोपड़ी घुटा, लम्बी चोटी को गाँठ दे, माथे पर चन्दन के लम्बे-लम्बे टीके लगा और गले में राम-नाम का दुपट्टा लपेट कर आपने अपने ज्योतिषी होने की घोषणा कर दी।

वैसे ज्योतिषी के नाते, आप की धाक शायद उम्र भर न जमती पर भाग्य बलवान् था। आपको पहले ही कुछ सट्टे (बदनी) की लत थी और ज्यों-ज्यों सारे पंजाब में और उसके फल स्वरूप जालन्धर में सट्टे का बाज़ार गर्म होता जाता, आप की यह लत भी बढ़ती जाती। तभी ऐसा हुआ कि दो-तीन बार आप को दो दो हज़ार रुपया सट्टे में आ गया। बस आपने यह साबित कर दिया कि यह सब ज्योतिष ही का प्रताप है। फिर क्या था, सारा दिन 'सटई' आप को घेरे रहते। पण्डित जी संकेतों में बातें करते। जिनका अंक आ जाता, वे उनकी प्रशंसा करते, नज़राने देते, जिनका न आता वे समझते, उन्होंने पण्डितजी का संकेत समझने में ग़लती की है। आगामी अंक पाने के हेतु वे और नज़राने देते। दोनों ही तरह पण्डितजी की चाँदी थी। अल्पकाल ही में आपने जालन्धर में अपना एक बड़ा मकान और दो दुकानें बनवा लीं, और नक़द भी काफ़ी जमा कर लिया।

इस सब धन-वैभव के बावजूद पण्डितजी दुखी थे। कारण यह कि उनकी इस सम्पत्ति को उनके बाद सम्हालने वाला कोई न था। पत्नी थी, पर बच्चा कोई न हुआ था और इधर आयु उनकी पचास

पार कर रही थी। उन्हीं दिनों जालन्धर की एक बारात के साथ वे सगिर्यों गये। तभी जयराम पुरोहित के साथ उनकी भेंट हुई और तभी कंचन जैसी उसकी लड़की को देखकर उनके मुंह में राल टपक आयी। इतना हुआ तो फिर सब प्रबन्ध कर लेना ज्योतिषी महेश्वरदयाल के लिए कुछ कठिन न था। पण्डित जयराम तथा उनकी ब्राह्मणी को, इस अपनी कड़ुवी बेल की तरह बढ़ने वाली लड़की को किसी न किसी तरह पार लगाने की चिन्ता थी। फिर वे ऐसा सुअवसर पाकर कैसे चूकते? विशेषकर जब बातों बातों में अपनी जायदाद का विवरण देते हुए, ज्योतिषीजी ने, उस सुख का भी जिक्र कर दिया था, जो उनके घर में बड़ी बेचैनी से नव-बधू की प्रतीक्षा कर रहा था। दोनों ओर से सब ख़र्च का प्रबन्ध भी उन्होंने अपने ज़िम्मे ले लिया और इस प्रकार लड़की को योग्य और धनी वर के हाथों सौंपकर पण्डित जयराम और उनकी पत्नी ने सुख की साँस ली और अपनी उस जायदाद का उत्तराधिकारी पाने की आशा के पुनः अंकुरित होने से ज्योतिषी महेश्वरदयाल एक बार फिर वृद्ध से युवा हो उठे।

ससुराल आने पर गहनों के प्रति सैंकरी का मोह और भी बढ़ गया। विवाह के बहुमूल्य आभूषणों के अतिरिक्त माथे का चाँद, हाथों के लच्छे, बाजू का अनन्त, सिर की सिंगार-पट्टी और गले का रानी-हार पण्डितजी ने बनवा दिये। कई तरह की साड़ियाँ ला दीं। अपने अभाव को अपनी श्रद्धा से पूरा करना अनायास ही वृद्ध प्रेमी जान जाते हैं। किन्तु जिस प्रकार बच्चा एक खिलौना पाकर दूसरे के लिए लालायित हो उठता है, सैंकरी भी एक चीज़ पाकर दूसरी की फ़रमाइश कर देती और पण्डितजी तुरन्त ला देते। किन्तु दोनों के दृष्टिकोण में महान् अन्तर था। बच्चा खिलौना पाकर अपनी कृतज्ञता से माता-पिता को प्रसन्न करने के बदले अपने हमजोलियों के मन में ईर्ष्या उत्पन्न करना, उन्हें

अपनी इस नयी सम्पत्ति से प्रभावित करना श्रेयस्कर समझता है। इसी प्रकार सेंकरी भी जब आभूषण पहनती तो पण्डितजी के पास बैठने के बदले अपनी सहेलियों को नये गहने दिखाने के लिए उसका मन व्यग्र हो उठता पण्डितजी अपने घुटे हुए सिर पर हाथ फेरते हुए ललचाई आँखों से लावण्य की उस अनुपम मूर्ति को देखकर कहते—'तुम तो स्वर्ग की अप्सरा हो,' और उसे अपनी ओर खींचने का प्रयास करते।

पर सेंकरी अपने मैके जाने के लिए मचल उठती।

वास्तव में गहने-कपड़े पहनते-पहनते कुछ विचित्र प्रकार की कसमसाहट उसके शरीर में पैदा होने लगती, कुछ अज्ञात-सी आकांक्षा उसके हृदय में सुलगने लगती, किन्तु ज्योतिषीजी की ओर से उसके मन में कुछ भय-सा बना रहता और वह उनकी उपस्थिति से एकदम भाग जाना चाहा करती, इसीलिए सदैव ऐसे अवसरों पर किसी न किसी तरह रो-रुलाकर वह मैके चली जाती। वहाँ जब उसकी सहेलियाँ उल्लास तथा ईर्ष्या के मिले-जुले भावों के साथ उसका अभिनन्दन करतीं, उसके गहनों को हाथों में ले-लेकर हँसी-हँसी में पहन-पहन कर देखतीं तो वह कृत-कृत्य हो जाती।

उसकी सहेलियाँ सोचतीं— काश हमें इनमें से एक गहना भी प्राप्त हो सकता! और उनकी माताएँ उस ब्राह्मण की छोकरी को बहुमूल्य गहनों-कपड़ों में आवृत्त देखकर एक दीर्घ-निश्वास छोड़तीं और सोचतीं —क्यों न उनकी लड़कियों को ऐसा घर मिला? बला से पति उम्र का पका हुआ होता, लड़की तो राज करती।

किन्तु इस राज की वास्तविकता क्या है, शीघ्रही सेंकरी को इसका पता चल गया। बात यह हुई कि इस अपने पति के राजा होने पर भी सेंकरी को वही अपने गाँव का ग़रीब घर अच्छा लगने लगा। धीरे-धीरे मैके रहने की उसकी अवधि बढ़ती गयी, यहाँ तक कि एक बार जब

पण्डितजी उसे लेने गये तो उसने जाने से साफ़ इन्कार कर दिया। उसने ऐसा क्यों किया, इसका भली-भाँति विश्लेषण तो वह स्वय भी न कर पायी थी, पर उस 'राज-घर' में जैसे उसका दम घुटने लगता था। तब पण्डितजी ने सोने के बड़े-बड़े मनकों की कण्ठी बनवा देने का वादा किया। माँ ने समझाया —बेटी, पति ही नारी का साथी है, उसका देवता है, यहाँ तक कि उसका परमेश्वर भी वही है, जैसे वह रखे, जिस हाल में रखे, उसी में रहना चाहिए! पिता ने उसे पहले झिड़कियाँ दीं, फिर वचन दिया कि उसे शीघ्र ही बुला लिया जायगा। तब कहीं जाकर सेंकरी तैयार हुई, पर जब उसने फिर मैके जाने की ज़िद की तो पण्डितजी ने उसे झिड़क दिया—'वहाँ किससे आशनाई है, जो नित उठकर भागती रहती हो'? उन्होंने कटु स्वर में कहा।

सेंकरी सन्न खड़ी रह गयी। वह रोयी नहीं, चिल्लायी भी नहीं, बस मूक, मर्माहत खड़ी रह गयी। क्षोभ से उसका गला भर आया। तब कपड़े उसने उतार फेंके; गहने अन्दर ट्रंक में बन्द कर दिये, सुहाग की निशानी केवल दो चूड़ियाँ हाथों में पड़ी रहने दीं और फैसला कर लिया कि अब चाहे वहाँ मर भी क्यों न जाये, मैके का नाम न लेगी।

वहीं खड़े-खड़े तब उसके सामने गाँव के कई भोले-भाले युवकों के चित्र घूम गये थे, जिनको वह 'भाई' कहती थी, दिल को टटोलकर उसने देखा था, क्या इनमें किसी के साथ उसकी आशनाई थी? हल्की-सी मुहब्बत भी थी? दिल में उसे कहीं भी कुछ दिखाई न दिया। हल्की-सी लहर भी नहीं। उसके भोले-भाले दिल ने अभी पुरुष को इस रूप में देखना भी न सीखा था। और तब वह फफक-फफककर रो उठी।

ज्योतिषीजी ने देखा—निशाना बहुत आगे पड़ा है। स्वयं ही ख़्याल आया कि उनसे ज़्यादती हो गयी है। तब उन्होंने उसे चुप कराने का प्रयास किया। खिसियानी-सी हँसी भी हँसे, गुदगुदाया भी, पर सेंकरी न खिली।

दूसरे दिन पण्डितजी सराफ की दूकान से सोने के बड़े-बड़े मनकोंवाली सुन्दर कंठी ले आये। सेंकरी ने उसे देखा। क्षण भर के लिए उसकी आँखों में चमक पैदा हुई, पर ज्योतिषीजी की बात का ध्यान आ जाने से दूसरे क्षण वह मिट गयी। पडितजी ने जब डिब्बा उसे दिया तो उसने चुपचाप उसे लेकर रख लिया। उन्होंने लाख कहा कि इसे ज़रा पहनकर दिखा दो, देखें तो सही तुम्हारे सुन्दर गले में कैसी सजती है! पर सेंकरी चुप बैठी रही। हारकर उन्होंने उसे जी भर कोसा, ताने भी दिये, झल्लाये भी और फिर उठकर बैठक में चले गये और न जाने कितनी जन्म-पत्रियाँ खोल-खोलकर ढेर लगा, उनमें बैठ गये।

उस वक्त तो सेंकरी ने वह कंठी नहीं पहनी, पर जब पण्डितजी चले गये तो उसे पहनकर देखने के लिए उसका मन बेचैन होने लगा। एक बार उसने उसे डिब्बे से निकाला भी पर फिर वहीं रख दिया। तभी हदा* लेनेवाली ब्राह्मणी परमेश्वरी का लड़का थाली उठाये आया। हँसमुख, नट-खट, बाइस-तेइस वर्ष की उम्र, स्वभाव में कुछ भोलापन और बेपरवाही!

'आशनाई'—अनजाने ही में सेंकरी के मस्तिष्क में एक शब्द गूंज गया।

और उसने ब्राह्मण-कुमार की ओर दबी निगाह से देखा, पर झट ही अपनी निगाहें फिरा लीं।

थाली के ऊपर से कपड़े का टुकड़ा हटाकर लड़के ने कटोरियाँ निकालकर रख दीं।

वहीं बैठे-बैठे सेंकरी ने पूछा—"तेरी माँ क्यों नहीं आयी आज?"

"बीमार है जी"। लड़के ने उत्तर दिया और फिर सेंकरी के पास आकर मुस्कराते हुए उसने कहा, "यह कंठी तो बड़ी सुन्दर है, कितने को आयी है?"

सेंकरी ने कहा, "मालूम नहीं, पण्डितजी लाये हैं—"

---

* नियमित रूप से प्रतिदिन दान-स्वरूप दिया जाने वाला भोजन।

और तभी उसका मन हुआ कंठी पहन ले।

युवक ने कहा—"पहनिए तो सही, ठीक आ गयी आपके? और यह कहकर वह ज़रा सा हँस दिया।"

सेंकरी ने तनिक आँख उठाकर उसकी ओर देखा। उसे उसकी यह हँसी बहुत सुन्दर लगी, साथ ही समस्त शरीर में एक झुरझुरी-सी दौड़ गयी। "मैंने देखी तो नहीं"—और यह कहते हुए मुस्कराकर और फिर कनखियों से ब्राह्मणकुमार की ओर देखकर सेंकरी कंठी पहनने लगी।

कंठी का हुक गले के पिछली ओर था। नया होने के कारण और गर्दन में कंठी के बिलकुल फिट आने के कारण वह प्रयास करने पर भी उसे न लगा सकी। तब ब्राह्मण-युवक ने सरल भाव से हँसते हुए आगे बढ़कर उसे लगा दिया। ऐसा करते समय उसकी अँगुलियाँ सेंकरी की कोमल गर्दन से छू गयीं।

सेंकरी के समस्त शरीर में फिर सनसनी-सी दौड़ गयी।

हुक लगाकर सेंकरी की ओर मुग्ध दृष्टि से देखते हुए ब्राह्मणकुमार ने कहा. "बहुत सुन्दर लगती है यह आप को।"

तभी पण्डितजी एक लटकती हुई जन्मपत्री हाथ में लिये दाख़िल हुए। आँखों में उनकी खून उतर आया पर दूसरे क्षण बरबस मुस्कुराहट ओंठों पर लाकर उन्होंने कहा, "वाह, कैसी सुन्दर लगती है!"

सेंकरी का मन प्रसन्न था वह हँस दी। इसके बाद वह सारा दिन खुश खुश रही। जब वह युवक हंदा लेकर चला गया था तो अपने कमरे में जाकर किवाड़ बन्द करके.उसने सब गहने-कपड़े पहने और वह कंठी भी अपने गले में लगायी थी। तभी उसने महसूस किया था जैसे उस ब्राह्मण कुमार की अँगुलियाँ उसकी गर्दन को स्पर्श कर रही हैं। इस प्रतीति के साथ ही उसके शरीर की नस-नस में वैसी ही झुरझुरी दौड़ गयी, फिर कुछ विचित्र कसमसाहट होने लगी और अज्ञात सी आकांक्षा की आग, जो उसके हृदय में कहीं दबी पड़ी थी, फिर सुलग उठी थी।

रात सेंकरी के स्वप्नों की दुनिया आबाद रही थी। उस दुनिया

का एक राजा भी था और एक रानी भी। राजा और रानी, जैसे आदि काल के बिछुड़े, किसी नन्दन-कानन में आ मिले थे। रानी ने उपालम्भ-भरे स्वर में कहा था—तुम आते नहीं मेरे राजा और ये पहाड़-से दिन मुझसे काटे नहीं कटते और रातें...और यह कहते-कहते रानी की आँखें सजल हो गयी थीं। तब मुस्कुराते हुए राजा ने कहा था, तुम घबराओ नहीं रानी, इसी नन्दन-वन में हम-तुम रोज़ मिला करेंगे।

लेकिन दूसरे दिन जब सेंकरी का मन अन्य दिनों की अपेक्षा हल्का था, और सब गहने-कपड़े न सही, आसमानी रंग की साड़ी के साथ उसने अपने प्रिय कंगन, कर्णफूल, चूड़ियाँ, और मोटे-मोटे सोने के मनकों की वह सुन्दर कंठी पहनी तो उसके सपनों का वह राजा न आया था।

परमेश्वरी ब्राह्मणी के स्थान पर हदा लेने के लिए पण्डितजी ने देवकी को लगा लिया था।

सारा दिन सेंकरी का शरीर शिथिल रहा था। अपने कमरे में वह अन्यमनस्क-सी लेटी रही थी और उसे अपने मैके की, अपनी सहेलियों की याद पहले से कहीं ज्यादा सताने लगी थी। गली में पण्डितजी ने उसका आना-जाना बन्द कर दिया था, मैके वह न जा-आ सकती थी और हँसमुख परमेश्वरी के स्थान पर सूखी सड़ी देवकी थी और सेंकरी बिहाल हो उठी थी।

इसी तरह लेटे-लेटे, करवटें बदलते बदलते, दिन ढल गया। कमरे में जैसे उसका दम घुटने लगा। वह उठी। आँगन में आयी मुँडेर पर एक कौआ काँव-काँव कर रहा था और ताक के ऊपर आगे को बढ़ी हुई महराब पर, एक कबूतर पंख फुलाये, गर्दन झुकाये, अपनी प्रेयसी को मनाने की कोशिश में व्यस्त था, किन्तु जब वह मस्तानी चाल से चलता उसके पास जाता, वह उड़ जाती। एक ताक से दूसरे पर, दूसरे से तीसरे पर, तीसरे से खटोले पर, खटोले से

चारपाई के पाये पर और वहाँ से लकड़ी के जंगले पर कबूतरी जा जाकर बैठी, पर उसने पीछा न छोड़ा। तब झपकी मारकर जो वह उड़ी तो अनन्त- नील-आकाश की गहराइयों में विलीन हो गयी। कुछ क्षण कबूतर ने वहीं जंगले पर एक- दो चक्कर लगाये, 'गटर गूँ, गटर गूँ', की, फिर वह भी आकाश की ओर उड़ गया।

लम्बी साँस भरकर सेंकरी ने अँगड़ाई ली, फिर उसने घड़े के ठंडे पानी से हाथ-मुँह धोये। फिर जैसे किसी अज्ञात प्रेरणा से ऊपर छत पर खुले में चली गयी।

सामने मुहल्ले के परले सिरे, अपने पुराने मकान की छत पर परमेश्वरी ब्राह्मणी का लड़का, मौन, पुस्तक में ध्यान जमाये पढ़ रहा था। सेंकरी ने अनायास ही अपने बिखरे बालों पर हाथ फेरा। उसके मन में उमंग उठी, कुछ गाये, कुछ गुनगुनाये, कोई ढोलक का पुराना गीत, पर वह चुप, अनिमेष-दृगों से उधर देखती रही। मुहल्ले का नीम ठंडी हवा के परस से जैसे मस्त होकर झूम रहा था। आकाश की गहराइयों में चीलें, एक दूसरी के पीछे उन्मत्त भाग रही थीं। सेंकरी ने अँगड़ाई-सी ली। तभी युवक ने उसकी ओर देखा। सेंकरी के सिर से से सारी का छोर उड़ गया था और उसके बिल्लौर ऐसे गले में कठी के बड़े-बड़े सुनहरी मनके डूबते हुए अंशुमाली की किरणों से जैसे शत-शत सूरज बनकर चमक रहे थे।

सेंकरी का मुख कानों तक सुर्ख हो गया। और युवक ने एक बिजली-सी अपने समस्त शरीर में दौड़ती हुई महसूस की।

तभी नीचे सीढ़ियों में पण्डितजी के चप्पलों की फट-फट सुनायी दी। वह जल्दी से नीचे चली गयी और मुस्कराते हुए उसने पण्डितजी का स्वागत किया, यजमानों के घर से जो कुछ वे ले आये थे, उसके सम्बन्ध में एक-दो मजाक भी किये, पर न जाने पण्डितजी को उसके चेहरे पर क्या लिखा हुआ नजर आया कि सब कुछ जल्द-जल्द उसे सम्हाल-कर वे नहाने से पहले छत पर गये और उन्होंने दूर सामने के मकान

की छत पर पढ़ते हुए युवक को घूरकर देखा । तभी उसने भी सिर उठाया दोनों की आखें चार हुईं । पण्डितजी ने अपनी चोटी पर हाथ फेरते हुए एक हुँकार भरी और जैसे निमिष मात्र के लिए हैरान-सा होकर युवक ने आँखें फिर पुस्तक में गाड़ लीं।

दूसरे दिन सँकरी अभी बिस्तर से भी न उठी थी कि उसने देखा—सामने के मकान की ओर शहनशीन की जगह पूरा साढ़े पाँच फ़ुट ऊँचा ईंटों का पर्दा बनाने का आयोजन राज-मज़दूर कर रहे हैं ।

यह थी उस राज की वास्तविकता और सँकरी को पता चल गया, कि इस राज के राजा और बन्दीख़ाने के जेलर में कोई अन्तर नहीं और अपने पति की ओर से उसके मन में जो भय-सा.था, वह एक तीव्र घृणा में परिवर्तित हो गया और दिन प्रति दिन इस घृणा की तह और भी गहरी होती गयी और यह सब उस समय तक जारी रहा, जब तक इस घृणा और भय के बावजूद वह एक लड़की की माँ न हो गयी और पुत्र की आकांक्षा मन ही मन में लिये, अपने विवाह के पूरे पाँच वर्ष बाद, नवजात कन्या के प्रथम-जन्मदिवस को ज्योतिषीजी परलोक न सिधार गये ।

तब अपने इस वृद्ध जल्लाद-ऐसे पति की मृत्यु पर अपनी भावनाओं का विश्लेषण सँकरी भली भाँति न कर पायी थी । उसका मन हलका भी था और एक भारी बोझ तले दबा हुआ भी प्रतीत होता था । ज़ोर-ज़ोर से हँस पड़ने को भी उसका जी चाहता था और ऊँचे-ऊँचे रो उठने को भी मन होता था । पर वह अधिक रोयी ही थी । अपना एक-एक गहना उतारकर उसने ट्रंक में रखा, और फिर प्रथा के अनुसार पड़ोसिनों और दूर नज़दीक के रिश्तेदारों के साथ मिलकर उसने छाती भी पीटी, बाल भी नोचे और आर आँखें भी सुजा लीं ।

मा ने तब आकर उसे सान्त्वना दी थी कि बेटी विधाता का लेख तो अमिट है, उसकी आज्ञा के बिना एक तिनका तक नहीं हिल सकता। जिस हाल में वह रखे, उसी में रहना चाहिए और फिर माँ ने गाँव की कई लड़कियों की मिसालें देकर समझाया था कि गाँव में बारह-बारह वर्ष की उम्र में विधवा हो जानेवाली स्त्रियाँ बैठी हैं और अपने पति के नाम का अवलम्ब लेकर उन देवियों ने अपना सारे का सारा जीवन काट दिया है। यह तो फिर परमात्मा का शत शत धन्यवाद है कि ज्योतिषीजी दोनों दुकानें और मकान उसके नाम छोड़ गये हैं, नहीं उसे तो यही डर था, किही सौत और उसके रिश्तेदार ही सिर पर न सवार हो जायँ। इस तरह परमात्मा को धन्यवाद देकर माँ ने सेंकरी को सलाह दी थी कि बेटी अपने छोटे भाई को यहाँ बुलवा लेना। वह यहाँ नगर में रहकर पढ जायगा। ३० रुपया तो दुकानों का किराया ही आ जाता है, यह इतना बड़ा मकान भी क्या करना है, आधा किराये पर चढ़ा देना, और मन को धर्म-कर्म के कामो में लगाना। और फिर उसने यह भी प्रस्ताव किया था कि गहने सब जाते जाते वह स्वयं ले जायगी। यहाँ सौ चोर-चकार का डर रहता है, जब लड़की सयानी हो जायगी तो आ जायेंगे और फिर जैसे हवा में देखते हुए माँ ने कहा था,—रामू का विवाह भी करना है, और घर की हालत तो तुमसे छिपी नहीं।

और सेंकरी ने जैसे बिना कुछ सुने ही यह सब स्वीकार कर लिया था।

रात जब अपने मकान की खुली छत पर सेंकरी सोयी, तो उसे नींद न आयी। साथ लगी बच्ची स्तन मुँह में लिये ही सो गयी थी। सेंकरी ने उसे अलग किया और करवट बदली। ऊपर आकाश मे पूर्णिमा का चाँद अपनी शुभ्र-ज्योत्स्ना के साथ चमक रहा था। ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी। सेंकरी के हृदय से एक दीर्घ-निःश्वास निकल गया। इन एक-दो

वर्षों में जीवन को वह कितना समझने लगी थी! दायीं ओर एक ढीली -सी चारपाई पर गठड़ी-सी बनी हुई माँ पर उसकी दृष्टि गयी और ग्लानि से उसका गला भर आया—यह विधाता की लेखनी है अथवा माँ-बाप का लेख ! माँ की ममता और पिता का प्रेम—सब व्यर्थ की बातें हैं, परिस्थितियों की झंझा का एक झोंका भी तो वह सह नहीं सकतीं, नहीं तो प्रतिदिन इतने माँ-बाप अपनी लड़कियों को इस प्रकार भट्टी में न झोंक देते। सैंकरी को तब एक और बात याद हो आयी जो एक दिन ज्योतिषीजी ने अपने कुल की कुलीनता का बखान करते हुए सुनाई थी। उन्हों ने कहा था—पिछले वक्तों में कुलीन घरानों में तो लड़की पैदा होते ही उसका गला घोंट देते थे। वृद्धा दादियाँ, परदादियाँ और जहाँ वे न होतीं, वहाँ मातायें लड़की पैदा होते ही उसका गला घोंट देती थीं और जहाँ मातायें इस योग्य न होतीं वहाँ दाइयाँ ही यह काम बड़ी सुगमता से सरअंजाम देकर नवजात बालिका को पोटली में बाँध कर धरती में गाड़ आती थीं—नारी ही नारी पर कितने अत्याचार करती है !—उसने सोचा और वहाँ पड़े-पड़े जैसे उसका दम घुटने लगा। एक सर्वग्राहिनी ज्वाला, जैसे उसके अन्तर में धू धू करके जल उठी। उसकी माँ ने क्यों न जन्मते ही उसका गला घोंट दिया ! और आँखों के भीजे हुए कोरों को आँचल से पोंछ कर उसने करवट बदल ली ! मुहल्ले के नीम पर बैठा हुआ बरड़ो (छोटे उल्लुओं) का जोड़ा कर्कश स्वर में 'विरड़-विरड़' कर उठा और ऊपर गगन में एक बड़ी-सी चमगादड़ अपने परों की छाया दीवार पर डालते हुए गुज़र गयी।

सैंकरी के सामने उसके सब गहने एक-एक करके आये—चौंक, फूल, क्लिप, काँटे, कंठी, माला, रानीहार, बाजूबन्द, कंगन, लच्छे, अनन्त......तो क्या वह इनमें से एक को भी अंग न लगा सकेगी ? क्या इन्हें अब उसकी भावजें पहनेंगी ? अपने इन प्रिय-आभूषणों के लिए क्या वह एकदम अपरिचित हो जायेगी ? और जैसे एक असह्य ईर्ष्या से उसका तन-मन जल उठा और एक बार अपने उन प्रिय

आभूषणों को जी भर कर देख लेने की इच्छा उसके मन में प्रबल हो उठी। उसने इस इच्छा को दबाने का प्रयत्न भी किया; अपने वैधव्य का भी उसे ख्याल आया; विधवाओं के धर्म और समाज के प्रतिबंधों की बात भी उसने सोची; पर उसकी वह इच्छा क्षण-प्रतिक्षण बलवती होती गयी। आख़िर वह धीरे से उठी। उसने माँ की ओर दबी आँखों से देखा, दिन भर छाती-पीटकर थकी हुई वह ख़र्राटे ले रही थी। सेंकरी पंजों के बल चलती हुई अपने कमरे में पहुँची। अपने सब बहुमूल्य कपड़े उसने निकाल लिये, तभी नीचे से वह लाल साड़ी निकली, जिसे उसने विवाह के दिन पहना था और एक अज्ञात प्रेरणा से उसने अपने वस्त्र उतार कर उसे पहनना शुरू कर दिया। साड़ी पहनकर उसने गहने निकाले। एक-एक करके उनको पहना। हाथों में कगन पहनते समय उसे मालूम हुआ, वह कितनी कमज़ोर हो गयी है और उसकी आँखों के सामने रक्त के इकट्ठा हो जाने से कलाई पर बनी हुई लाल-लाल चूड़ी घूम गयी। वह शीशे के सामने गयी। उसके गोल-गोल कल्लों पर गढ़े पड़ चले थे, जबड़ों की हड्डियाँ दिखाई देने लगी थीं और अभी उसकी उम्र सिर्फ़ अठारह वर्ष की थी।

दीर्घ-निःश्वास लेकर वह वहीं ट्रंक पर बैठ गयी और उसकी आँखों के सामने चार वर्ष पहले की एक घटना घूम गयी, जब परमेश्वरी ब्राह्मणी के हँसमुख लड़के ने उसकी कंठी का हुक बाँध दिया था। उसी दिन की तरह एक अज्ञात आनन्द की झुरझुरी-सी उसके शरीर में दौड़ गयी।

दूर कहीं मुसलमानों के मुहल्ले में मुर्ग़ ने अज़ान दी। चौंककर सेंकरी उठी। उसने सब गहने उतार कर ट्रंक में बन्द किये, कपड़े बदल, फिर तह लगा कर रखे और दबे पाँव ऊपर पहुँची। चाँद तब दायीं ओर के ऊँचे मकान की ओट में चला गया था और चारपाइयों पर हलका-सा अँधेरा छा गया था। चुपचाप सेंकरी अपनी चारपाई पर जा लेटी।

दूसरे दिन जब माँ वापस जाने लगी और अन्दर लेजाकर उसने सेंकरी से गहने मांगे तो वह सरासर टाल गयी। मां ने बहुतेरी ऊँच-नीच दिखाई, पर सेंकरी टस से मस न हुई। गहने उसने नहीं दिये। चोर चकार का डर जो मा ने दिखाया था उसके प्रतिकार स्वरूप उसने कहा कि वह परमेश्वरी ब्रह्माणी को अपने घर रखने की बात सोच रही है। उसका युवा लड़का है जिसके रहते किसी प्रकार का भी डर न रहेगा।

फूल का अंजाम

वह सिनेमा पर मुग्ध थी।

हर दूसरे-तीसरे सिनेमा देखने जाना उसके कार्यक्रम का एक भाग बन चुका था। उसे देशी फ़िल्मों से लगाव था। उनकी त्रुटियों के बावजूद वह उन्हें पसन्द करती थी।

कालेज से डिग्री लेकर एक अच्छी ऐक्ट्रेस बनने की आकांक्षा उसके मन में हिलोरें लिया करती थी।

वह सुशिक्षित, सुन्दर और सुसभ्य थी। अंगूर की बेल की भाँति कोमल, कमल के फूल के तरह विकसित।

आज उसे अपने सामने बैठा हुआ देखकर वह अपने आपको भूल गयी। वह यूनीवर्सिटी का ग्रेजुएट था और एक प्रसिद्ध फ़िल्म कम्पनी का प्रधान अभिनेता। उसके मुख पर मुस्कराहट खेल रही थी। वह उसके पार्ट को बहुत दिलचस्पी से देखा करती थी।

"ऐक्टर उतने रूपवान नहीं होते, जितने वे रजत-पट दिखाई देते हैं" ।।यह बात उसे असत्य प्रतीत हुई । वह कितना सुन्दर था, कितना सुडौल !

फ़िल्म में भी वही पार्ट कर रहा था। वह कभी पर्दे की ओर देखती और कभी उसके मुख की ओर । वह फ़िल्म पर अपना अभिनय देखता, मित्रों से बातें करता और उनके किसी मज़ाक पर अनायास हँस देता।

उसकी दृष्टि पर्दे से हट कर 'उसके चेहरे पर जम चुकी थी। फ़िल्म समाप्त हो गया। उसके हृदय को एक धक्का-सा लगा।

अनिच्छापूर्वक वह घर चली आयी।

अपने नियम के विरुद्ध दूसरे दिन फिर वह फ़िल्म देखने गयी। पर वह वहाँ नहीं था। घर आकर उसने उसे पत्र लिखा और उस में अपना हृदय निलाकर रख दिया—"मैं तुम्हारे फ़िल्मों को पसन्द करती हूँ......मैं उन्हें बार-बार देखती हूँ......मैं तुम्हें हृदय से प्यार करती हूँ......"

और चन्द ऐसे ही प्रेम भरे भावुक वाक्य।

उसने पत्र को बन्द किया और स्वय जाकर बड़ी सावधानी से लेटर बक्स में छोड़ आयी।

सारा दिन उसके हृदय में उथल-पुथल मची रही।

उसकी अभिलाषा पूर्ण हो चुकी थी। वे दोनों वाटिका की पगडण्डियों पर टहल रहे थे। उसने एक फूल तोड़ा और एक अच्छे ऐक्टर की भाँति उसकी ओर ले गया।

उसने उसकी सुगन्धि से अपनी प्यास बुझा कर अनजाने ही उसे

मसल डाला और धरती पर फेंक दिया।

सुकोमल फूल उसके पाँव तले आकर रौंदा गया।

उसने इस बात पर कोई ध्यान न दिया और उसकी भुजा में भुजा डाल कर द्वार की ओर चल दी।

वह एक सफल अभिनेत्री थी।

लोग उसका नाम सुन कर बेचैन हो जाते थे। उसकी फिल्में देखने को टूट पड़ते थे। उसके चित्रों से अपने ड्राइगरूम की शोभा बढ़ाते थे।

उसकी मेज़ पर प्रेम-पत्रों का ढेर लगा रहता था।

देश भर के पत्र और पत्रिकाएँ उसकी प्रशंसा करती थीं।

उसकी अभिलाषा का यह भाग भी पूरा हो चुका था, किन्तु कितना मूल्य चुकाने के बाद ? उसके वक्ष में वह हृदय न रहा था ! अरमानों की दुनिया उजड़ चुकी थी। उल्लास का स्रोत सूख गया था। अपनी ख़ुशी लुटा कर वह दूसरों की प्रसन्नता का सामान जुटाया करती थी।

मेक-अप-रूम में बैठी वह अपने विचारों में तल्लीन थी। सामने क़दआदम शीशे के दोनों ओर गुलदस्ते सजे हुए थे। सहसा बेख्याली में उस ने एक फूल तोड़ा—अचानक उसे वाटिका की सैर याद हो आयी। फिर चलचित्र की भाँति बाद की कई दुखद घटनाएँ उसकी आँखों के सामने से घूम गयीं।

क्या उसका भी अंजाम फूल का-सा न हुआ था !

"मेडम, आप तैयार हो गयीं ?" डायरेक्टर की आवाज ने उसे चौंका दिया।

उसके विचारों का क्रम टूट गया। एक दीर्घ-निश्वास उसके अन्तर की गहराइयों से निकल गया और वह अपने बालों को सुलझाने तथा अपने भाग्य को और भी अधिक उलझाने में निमग्न हो गयी।

जादूगरनी

"इस छोटे से गाँव में वह इस नन्हे से सुन्दर महल की मालिक थी।

उसे कभी किसी ने किसी से बातें करते न सुना था। मौन और एकाकी वह अपनी वाटिका की वीथियों में घूमा करती थी।

उसके बाल घुटनों तक लम्बे और रात की भाँति काले थे, उसकी आँखें मदभरी और दिल में घर करने वाली थीं, उसका सुन्दर मुखड़ा बालों के घने घोंसले में नन्हे से श्वेत पक्षी की भाँति दिखाई देता था। वह देवी थी— सुन्दरता और सुकुमारता की देवी!

अपने अनिद्य रूप के गर्व में वह इस गाँव और इसके वासियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखती थी। हाँ, कभी कभी उसका हृदय युवा गड़रिये की ऊँची तानों के साथ आकाश की ऊँचाइयों पर उड़ जाता, और वह उसे सदैव वापस ले आने का प्रयास किया करती।

उसके दिन एकान्त में गुज़रते हों, यह बात न थी। उसकी दुनिया

सपनों की दुनिया थी। वह अपने कल्पित संसार में विचरा करती। कल्पनाओं के गढ बनाती और ढाती—इसके सिवा उसे कोई काम न था। उसके बूढ़े दादा उसकी किसी बात का विरोध न करते थे और वह अपनी सुन्दर कल्पित दुनिया मे विचरने को स्वतन्त्र थी।

लोग उसे जादूगरनी कहते थे—मानिनी जादूगरनी।

वह गड़रिया था—सुन्दर गड़रिया—गाँव के गड़रियों का राजा।

वह युवा था और उसकी नस नस में जवानी का खून हिलोरें लेता था।

उसके सुगठित शरीर की ओट में वीर रस मानो स्वयं साकार हो गया था।

उसकी बड़ी बड़ी काली आँखों में मस्ती छलकती थी—जिस तरह आबनूस की लकड़ी के बने हुए प्याले में शराब!

उसकी आवाज में मोहनी थी और उसकी मनमोहक तानें गाँव के वायु-मन्डल में गूँजाया करती थीं।

जब कभी चाँदनी रातों में वह प्रेम में डूबे हुए गीत अलापता तो जादूगरनी के सपनों की दुनिया जाग उठती—मेड़ों पर ऊँघते हुए किसान अँगड़ाई लेकर उठ बैठते।

धीमे स्वरों में गाता हुआ वह अपनी भेड़ों के पीछे उसके महल की फसील के नीचे से गुज़र जाता।

वह तन्मय होकर उसके गीत सुनती। उनकी मादकता मे उसके मन-प्राण प्लावित हो जाते; क्षण भर के लिए वह अपने लम्बे नीरव स्वप्न भूल जाती और उसके मन में द्वंद्व सा मच जाता! परन्तु वह मानिनी थी और उसका दर्प उसे सुन्दर गड़रिये की ओर से आँखें फेर लेने को विवश कर देता।

गाँव के भोले भाले लोग उसे सचमुच जादूगरनी समझते और

उसके छोटे से महल के पास जाते हुए डरते।

लेकिन युवक, किसी अदृश्य जादू से खिंच कर उसके महल की फसील के इर्द-गिर्द घूमा करते ताकि वे उसे एक नज़र देख सकें।

और वह उनके अस्तित्व से बेख़बर अपने स्वप्नों में निमग्न रहती।

वह बड़े बड़े सुन्दर महलों के स्वप्न देखती, बड़ी बड़ी सुरम्य वाटिकाओं की सैर किया करती और यह नन्हा सा गाँव प्राकृतिक सुन्दरता से परिपूर्ण होने पर भी उसे मूर्तिमान नरक दिखाई देता।

उसका अस्तित्व एक न खुलने-वाला भेद था और इसकी कुंजी उसी के पास थी।

निर्दयी मदन के तीरों से उसका हृदय— शिशु का सा सरल हृदय— भी सुरक्षित न रह सका।

जादूगरनी की निगाहें उसके दिल मे दूर तक खुब गयीं।

उसके गानों में शिथिलता आ गयी— उसकी तानें काँपने लगीं।

वह बेपरवाह रहने लगा–उसका लम्बा कुर्ता कई जगह से फट गया।

उसकी आँखों की मादकता उन्मत्तता बन गयी।

उसे अपने रेवड़ की भी सुध न रही।

प्रेमी वह, पागल वह, उन्मत्त वह!

एक दिन उसके सुन्दर महल पर अग्नि का प्रकोप हुआ।

वायु ने आग पर तेल का काम किया, ज्वालाओं ने भयानक रूप धर लिया और चारों ओर फैल गयीं।

सहसा महल से चीत्कार सुनायी दिया और फिर खिड़की से उसका परेशान चेहरा नज़र आया।

पागल गड़रिया बदहवास लोगों की भीड़ को चीर कर आगे बढ़ा

और जीवन का मोह छोड़ कर महल पर चढ़ गया।

लोग चादरें तान कर खड़े हो गये।

एक हलका धमाका सा हुआ और सुन्दर जादूगरनी चादरों के जाल में अचेत आ पड़ी।

लोगों ने उससे भी कूदने को कहा, लेकिन उस मधुर-क्षण की स्मृति को हृदय में समोये, जब वह उसके आलिंगन में थी, उसके वक्ष के पास और अचेत तरुणी पर एक दृष्टि डाल कर उसने एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ा और पीठ फेर कर उस के बूढ़े दादा को बचाने के लिए किसी खूनी फव्वारे की फोहार सी उबलती हुई ज्वालाओं में कूद गया।

अब वह होश में आ चुकी है—पर उसके होश बीत चुके हैं।

आग ने गाँव का गाँव जला कर राख कर दिया था।

लोग नया गाँव तैयार कर चुके हैं।

लेकिन वह अब भी पुराने गाँव के खण्डहरों में घूमा करती है।

लोगों ने उसे गड़रिये—उसके स्वप्नों को परेशान कर देने वाले राजा गड़रिये की मृत्यु का समाचार सुनाकर पागल कर दिया है।

पुराने गाँव के भग्नावशेष को देखने के लिए आने वाले उसे इसी महल की जर्जर दीवारों में दुखी प्रेतात्मा की भाँति भटकते हुए देखते हैं।

उसका दर्प टूट चुका है—उसका जादू बाकी है, पुराने ख्याल के लोग अब भी उस से दूर रहने का प्रयास करते हैं।"

चाँद के धीमे प्रकाश मे खण्डहर भयानक दृश्य उपस्थित कर रहे थे। गाँव के वृद्ध कवि ने एक ऊँचे से खण्डहर की ओर संकेत करते हुए यह कहानी समाप्त की।

मेरे शरीर में सनसनी दौड़ गयी।

मैंने दृष्टि उठाई। मानिनी जादूगरनी पागल जादूगरनी बन चुकी थी और एक जर्जर दीवार पर सिर रखे आँसू बहा रही थी।

इश्कपेचों की शुष्क बेल की भाँति उसके लम्बे बाल जो प्रतिदिन नोचे जाने के कारण घने न रहे थे, वायु के झोंकों से इधर उधर बिखर रहे थे।

उबाल

जब दूध उबल-उबल कर कोयलों पर गिरने लगा और 'शॉ' 'शॉ' की आवाज़ के साथ एक तीखी-सी गन्ध उठी तो चन्दन ने हड़बड़ाकर पतीली की ओर हाथ बढ़ाया—कोयलों के ताप से पतीली लाल-सुर्ख हो रही थी। बेबसी की एक दृष्टि चन्दन ने इधर-उधर डाली—कोई कपड़ा पास न था। उसने चाहा—पानी का छींटा ही दे दे, किन्तु लोटे के पानी में अभी-अभी उसने आटे वाले हाथ धोये थे– दूध उबल रहा था और सड़ी हुई झाग की गन्ध कमरे में फैलने लगी थी और अन्दर कमरे में उसके मालिक और मालिक धीरे-धीरे बातें कर रहे थे—विवशता के उस क्षण में चन्दन के बढ़े हुए हाथ और बढ़ गये और निमिष-मात्र में, तपती, जलती पतीली खट से फ़र्श पर आ गयी। चन्दन की अँगुलियों की पोरें जल गयीं। उबलता हुआ दूध उसके हाथों पर गिर गया और जलन के कारण उसके ओठों से अनायास एक 'सी' निकल गयी।

पतीली को खट से फ़र्श पर रखते हुए थोड़ा-सा दूध फ़र्श पर भी

गिर गया था। उसी आटे के पानी से उसने उसे धो डाला और अँगुलियों की जलन को जैसे झाड़कर उतारता हुआ, वह स्नान-गृह की ओर भागा।

पानी की धार के नीचे हाथ रखे-रखे उसने सिर को हल्का-सा झटका दिया और मुस्कराया—वास्तव में जब भी उससे कोई मूर्खता बन आती थी, वह इसी प्रकार सिर हिलाकर ओठों के बायें कोने से मुस्कराया करता था और ओंठ कटे होने के कारण उसके दाँत दिखाई देने लगते थे।

बात यह हुई थी कि दूध को अँगीठी पर रख कर वह अपने मालिक और मलिकिन की बातें सुनने लगा था। यद्यपि दिन काफी चढ़ आया था और चन्दन ने दोपहर के खाने के लिए आटा भी गूँध लिया था, लेकिन वे अभी तक बिस्तर ही पर लेटे बातों में निमग्न थे और कुछ ही देर पहले उसके मालिक ने चन्दन को चाय बनाने का आदेश दिया था।

उसने दूध की पतीली को अँगीठी पर रख दिया था और वह उनकी बातें सुनने में निमग्न हो गया था। जब से उसके मालिक की शादी हुई थी, वह सुबह उठने के मामले में सुस्त हो गया था। इससे पहले वह प्रायः सैर को भी जाता, पर अपनी इस नव-परिणीता पत्नी के आने पर वह उसके साथ दिन चढे तक सोया रहता। जब जगता तो वहीं लेटे-लेटे चन्दन को चाय बनाने का आदेश दे देता। और फिर वे दोनों, पति-पत्नी धीरे-धीरे बातें किया करते—मीठी, मदभरी बातें!

चन्दन को इन बातों मे रस आने लगा था। वे अन्दर बिस्तर पर लेटे धीरे-धीरे बातें कर रहे होते और वह बाहर बैठा उन्हें सुनने का प्रयास किया करता।

आँच की तेज़ी के कारण दूध पतीली में बल खाता हुआ ऊपर उठ रहा था और चन्दन उस ओर से बेख़बर उनकी बातें सुनने में निमग्न था।

"मैं विवश हो जाता हूँ, तुम्हारे गाल ही ऐसे हैं..."

"आपके हाथों का अपराध नहीं क्या..."

"इतने अच्छे हैं तुम्हारे गाल कि..."

"जलने लगें आपकी चपतों से..."

"लो मैं इन्हें ठंडा कर देता हूँ !"

और चन्दन को ऐसे लगा जैसे कोई सुकोमिल फूल रेशम के नर्म नर्म फर्श पर जा पड़ा हो। कल्पना ही कल्पना में उसने देखा कि उसके मालिक ने अपने ओंठ अपनी पत्नी के गाल से लगा दिये हैं। वहीं बैठे-बैठे उसका शरीर गर्म होने लगा। उसके अंग तन गये और कल्पना ही कल्पना में अपने मालिक का स्थान उसने स्वयं ले लिया।

हाथ धोकर उसने सिर को फिर झटका दिया और ओंठों के बायें कोने से मुस्कराता हुआ वह अन्दर गोदाम में गया। उसने ज़रा-सा सरसों का तेल लेकर अपने हाथों की काली, मैली, जलती हुई त्वचा पर उस जगह लगाया, जहाँ जलन हो रही थी। फिर जाकर वह रसोईघर में बैठ गया और उसने चाय की केतली अँगीठी पर रख दी।

किन्तु हाथ जलाने और अपनी इस मूर्खता पर दो बार सिर हिलाकर मुस्कराने पर भी उसके कान फिर कमरे की ओर जा लगे, उसकी कल्पना अपनी समस्त तन्मयता के साथ उसके श्रवणों की सहायता करने लगी और उसकी आँखों के सम्मुख फिर कई चित्र बनने और मिटने लगे।

"चन्दन !" उसके मालिक ने चीख़ कर आवाज़ दी और फिर कहा—"वहीं मर गये क्या !"

मालिक की आवाज़ सुनकर वह चौंका। जल्द-जल्द चाय और तोस बनाकर, अन्दर ले गया।

उसके मालिक-मालिकिन पूर्ववत् बिस्तर पर पड़े थे। वे दोनों

आलिंगनबद्ध तो न थे, फिर भी दोनों एक दूसरे से सटे, तकिये के सहारे लेटे हुए थे। लिहाफ़ दोनों के सीने तक था और मालिक की बाँह अभी तक मालिकिन की गर्दन के नीचे थी।

"इधर रख दो।"

चन्दन ने ट्रे तिपाई पर रख दी।

एक बार देख कर मालिक ने कहा—"तुम्हें हो क्या गया है? दूध का जग कहाँ है?"

"जी, अभी लाया!" और सिर को एक बार झटका देकर ओठों के बायें कोने से मुस्कराता हुआ वह रसोई-घर की ओर गया

दूसरे क्षण उसने दूध का बर्तन लाकर रख दिया, पर उसे फिर गालियाँ सुननी पड़ीं, क्योंकि दोबारा देखने पर मालिक को मालूम हुआ कि छलनी नहीं है।

चन्दन ने छलनी लाकर रख दी और क्षण भर के लिए वहीं खड़ा रहा। उसकी झुकी हुई दृष्टि अपनी मालिकिन के चेहरे पर जा पड़ी—सुन्दर, सुवासित खुले केशों की लटें उसके गोरे गलगोथने चेहरे पर बिखरी हुई थीं, ओठ सूखे होने बावजूद गीले-गीले थे; मुस्कराती आँखों में तन्द्रा की बारीक-सी रेखा थी और चेहरे पर हल्की-सी थकन की छाया। उसके मालिक ने बड़े प्यार से कहा —"चाय बना दो न जान!"

पर 'जान' ने रूठते हुए करवट बदल ली।

"मैं कहता हूँ चाय न पियोगी?" उसे मनाते हुए मालिक ने कहा।

"मुझे नहीं पीनी चाय!" मालिकिन ने गाल को मसलते हुए उत्तर दिया, जिस पर अभी-अभी प्यार की हल्की-सी चपत उसके मालिक ने लगायी थी।

गर्दन के नीचे की बाह उठी और मालिकिन अपने मालिक के आलिंगन म भिंच गयीं।

"क्या करते हो, शर्म नहीं आती?"

चन्दन का दिल धक्-धक् करने लगा और उसके मालिक का

ठहाका कमरे में गूंज उठा।

"उठो, बना दो न चाय!" मालिक ने बड़ी नर्मी से बाँह को ढीला छोड़ते हुए कहा, "तुम्हारे गाल ही ऐसे प्यारे हैं कि अनायास उन पर चपतें लगाने को जी चाहता है।"

तड़प कर मालिकिन ने फिर करवट बदल ली।

"चन्दन, तुम बनाओ चाय!"

लगभग कांपते हुए हाथों से चन्दन ने चाय की प्याली बनायी।

प्याली उठाकर अपनी 'जान' को बग़ल में भींचते हुए उसके मालिक ने प्याली उसके ओठों लगा दी।

यह 'जान' का शब्द था, या उसके मालिक का उसके सामने अपनी पत्नी को आलिंगन में लेना, कि जब दोपहर को काम काज से निबट कर चन्दन अपनी कोठरी मे जा लेटा, तो उसकी आँखों में 'ज़ोहरा जान' का चित्र घूम गया और उसने अनायास सरसों के तेल और मिट्टी मे सने ग़िलाफहीन मैले, जीर्ण-शीर्ण तकिये को अपने आलिंगन मे भींच लिया।

अचानक उबल कर ऊपर आ जानेवाले दूध की भाँति न जाने ज़ोहरा का यह चित्र किस तरह उसके बचपन की गहरी, दबी, गुफ़ाओं से निकल कर उसके सामने आ गया--वही नाटा-सा क़द, भरा-भरा गदराया शरीर, बड़ी-बड़ी चंचल आँखें, पान की लाली से रँगे ओठ, भारी कूल्हे, वही छातियों का उभार और वह स्वर्ण-स्मिति जिसके स्रोत का पता ही न चलता था कि आँखों में आरम्भ होती है या ओठों पर।

वह उस समय बहुत छोटा था और अनाथ हो जाने के कारण मौसी के पास रहा करता था। उसकी यह मौसी एक सेठ के बच्चों की धाय थी। यह सेठ चावड़ी बाज़ार में ग्रामोफ़ोन और दूसरे बाजों की दुकान करता था। इस दुकान के सामने ज़ोहरा का चौबारा था और

सेठ की दुकान के बाजे चाँदी के सिक्कों में परिणत होकर धीरे-धीरे वहाँ पहुँचा करते थे।

चन्दन अपने मौसेरे भाई और सेठजी के बड़े लड़के के साथ कभी-कभी ज़ोहरा के चौबारे पर चला जाता था।

ज़ोहरा सेठजी के लड़के को प्यार किया करती, मिठाई आदि देती और इस मिठाई का कुछ जूठा हिस्सा उन दोनों भाइयों को भी मिल जाया करता था। कई बार वह दूसरे बच्चों के साथ चौबारे के बाहर आँगन मे खेल रहा होता कि सेठजी आ जाते। ज़ोहरा के पास जा बैठते, उसे आलिंगन में ले लेते या उसकी सुकोमल जाघ पर सिर रखकर लेट जाते।

उसकी यह मालिकिन भी तो ज़ोहरा से मिलती-जुलती थी—उसी जैसा नाटा क़द, उसी जैसे भरे गदराये कूल्हे, बादलों-सी उमड़ती हुई छातियाँ, गोल-गोल रस भरे गाल, बड़ी-बड़ी मुस्कराती आँखें और लाल ओठ—कौन कह सकता है कि उस एक क्षण में उसे अपने मालिक के आलिंगन में बँधे देखकर ही उसे ज़ोहरा का ध्यान न हो आया था।

कल्पना ही कल्पना में चन्दन ज़ोहरा के चौबारे पर पहुँचकर सेठ बना उसकी जाँघ पर सिर रखे लेट गया और ज़ोहरा प्यार से उसके बालों पर हाथ फेरने लगी।...वह भूल गया कि उसके टखनों तक मैल जमी हुई है, खुश्की के कारण उसकी टाँगों की त्वचा घुटनों तक पपड़ी बन गयी है; उसकी नीली निकर (जो उसके मालिक ने उसे कभी दी थी) मैल से काली हो गयी है; उसके स्याह माथे पर चोट का एक अत्यन्त घिनावना दाग़ है; उसका निचला ओठ कटा हुआ है और उसके सिर के बाल छोटे-छोटे और रूखे हैं—वह मस्त लेटा रहा और ज़ोहरा उसके बालों पर हाथ फेरती रही। वहीं उसकी जाँघ पर लेटे-लेटे उसने करवट बदली और कहना चाहा, 'ज़ोहरा, कितनी अच्छी हो तुम...!' पर उसकी कमर में कोई तीखी-सी चीज़ चुभ गयी और तब

उसने जाना कि वह नंगे फर्श पर लेटा हुआ है वह चीज़, जिस पर उसका सिर रखा है, ज़ोहरा की जाँघ नहीं, बल्कि वही सड़ा-गला, मैला तकिया है।

चन्दन ने सिर को झटका दिया, किन्तु वह मुस्काया नहीं। उठकर, दीवार से पीठ लगाकर बैठ गया। वहीं बैठे-बैठे पिछले कई वर्ष उसकी आँखों के सामने उड़ते हुए-से गुज़र गये।

सेठजी तो अपनी सब जायदाद चावड़ी बाजार के 'हुस्न' की भेंट करके अपने नाना के गाँव चले गये थे, जो कहीं मध्य-पंजाब में अपनी कुरूपता और अपढ़ता की गोद में सोया पड़ा था। चन्दन की मौसी रियासत अलवर में अपने गाँव चली गयी और चन्दन इस अल्प-वयस ही में तीन रुपए मासिक पर उन सेठ के एक मित्र के यहाँ नौकर हो गया था...

इसके बाद उसका जीवन उस कम्बल की भाँति था जिसे इधर से रफू किया जाय तो उधर से फट जाये, उधर से सिया जाय तो इधर से उधड़ जाये।

अपने इस मालिक के यहाँ पहुँच कर उसने सुख की साँस ली थी और उसने यह महसूस किया था कि ऐसा हँसमुख, उदार और खुले स्वभाव का मालिक उसे गत बारह वर्ष की नौकरी में नहीं मिला। किन्तु उसके मालिक का यही खुलपान उसके लिए मुसीबत बन गया। उसका मालिक उसके सामने ही अपनी पत्नी से प्यार करने लगता, उसे आलिंगन में ले लेता और प्रायः चूम लेता। जैसे चन्दन हाड़ माँस का इन्सान न हो, मिट्टी का लौंदा हो।

चन्दन ने सोचा—इस विवाह से पहले वह कितने सुख-शान्ति से रहता था। अंगों में यह गर्मी-गर्मी-सी, नसों में यह तनाव-तनाव-सा, यह अशान्ति और अनिद्रा-सी उसे पहले कभी न महसूस न हुई थी। वह सोता था तो गत-आगत का होश उसे न रहता, किन्तु जब से उसके इस मालिक ने विवाह किया और उसकी नयी मालकिन आयी,

उसकी नींद उड़ सी गयी थी। उसे विचित्र प्रकार के सपने आते थे। रात उसने कासनी को देखा था। कासनी उसके पहले मालिक की लड़की थी। कच्ची नाशपतियों-सी उसकी छातियाँ थीं, टखनों से ऊँचा लहँगा और बंडी पहने वह नगे सिर घूमा करती थी। यही लड़की स्वप्न में उसके साथ आ, लेटी थी। कैसे? कहाँ? उसे कुछ याद नहीं! पर वह जाग उठा था। उसका शरीर गर्म था, उसकी नसें तनी हुई थीं और उसे पसीना आ गया था—फिर वह सो न सका।

कुछ भी समझ में न आने से अपनी मूर्खता पर उसने सिर हिलाया, पर वह मुस्कराया नहीं। उसका मालिक दफ्तर गया हुआ था। मालिकिन अन्दर कमरे में गहरी नींद सोयी हुई थी। वह उठा और पड़ोसी राय साहब के नौकर जेठू की कोठरी की ओर चल पड़ा, जहाँ दोपहर के समय इर्द-गिर्द के सब नौकरों की महफ़िल जमा करती थी।

चैत सुदी पूर्णमासी का चाँद गुलमौर के पीछे से धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा था। कोठी की फ़सील से लगी नव-वय की कीकरी के पत्ते तरल-रजत के परस से चमक उठे थे। चन्दन धीरे धीरे अपनी कोठरी से निकला— सामने कोठी के पोर्च पर फैली हुई बिगिन-वेलिया के लाल गुलानारी फूल चाँदनी में हल्के स्याही मायल दिखायी दे रहे थे। एक ओर जैकारेंडा का पुराना पेड़ (जिसका तना पारसाल मध्य से काट दिया गया था) अपनी कुछ-एक शाखाओं के सिरों पर पत्तों और फूलों के गुच्छे लिये मस्ती से झूम रहा था। दूर से ये गुच्छे नन्हें-नन्हें बादलों के टुकड़ों से दिखायी देते थे। ककरौंदे और खट्टे के फूलों की मादक सुगन्ध वायु-मंडल के कण-कण में बसगयी थी। यद्यपि अभी तक वे सब अन्दर कमरे में सोते थे, पर नव-ऋतु के आगमन से सर्दी अधिक न रही थी। चन्दन अनमना-सा गोंदनी के एक छोटे-से पेड़ के पास जा खड़ा हुआ।

अपने ध्यान में खड़े-खड़े उसने दो-चार नन्हीं-नन्हीं गोदनियाँ तोड़कर मुँह में डाल लीं। पूरी तरह पकी न थीं। उसके मुंह का स्वाद बिगड़ गया। क्षण भर तक वह असमंजस की दशा में वहीं खड़ा रहा। फिर वह बरामदे में गया और उसने बड़ी सावधानी से बैठक का दरवाज़ा खोला।

सोने का कमरा बैठक के साथ ही था और बैठक साधारणतः खुली रहती थी। उसका एक दरवाज़ा वह स्वयं बाहर से बन्द कर लिया करता था और दूसरा मालिक अन्दर से बन्द कर लेते थे। उसने धीरे से दरवाज़ा खोला। मालिक के सोने के कमरे में हल्की रोशनी थी, उसका प्रतिबिम्ब दरवाजे के शीशों पर पड़ रहा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे किसी ने गदले प्रकाश की कूची दरवाजे के शीशों पर फेर दी हो। धीरे-धीरे दरी पर पांव रखता हुआ चन्दन बढ़ा और जाकर दरवाजे के साथ पंजों के बल खड़ा हो गया।

अन्दर छत में लाल रंग का बल्ब जल रहा था, उसके धीमे प्रकाश में वह आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा। किन्तु दूसरे ही क्षण वह वापस मुड़ा। उसका शरीर गर्म होने लगा था, अंगों में तनाव आ गया था, कण्ठ और ओंठ सूखने लगे थे और उसकी नसों में जैसे दूध उबलने लगा था।

उसी तरह पञ्जों के बल भागता-सा वह बाहर आया। धीरे से उसने दरवाज़ा लगाया और बाहर चाँदनी में आ खड़ा हुआ। सामने जैकारेंडे का तना खड़ा था। उसके जी में आयी कि अपने युवा वक्ष की एक ही चोट से उस तने को गिरा दे।

कोठी के सामने लान में फुहारे के गिर्द लाल-पीले फूलों के अगनित पोधे लहरा रहे थे, जिनके चौड़े-चौड़े पत्तों पर पानी की बूंदें फिसल फिसल पड़ती थीं। ककरौंदे की सुगन्ध और भी तीखी होकर वायु-मण्डल में बस गयी थी। चन्दन ने जाकर फुहारे की टोटी घुमा दी...फर्र-फर्र मीठी फुहार उस पर पड़ने लगी।

वह जेठू के यहाँ क्यों गया ? वह सोचने लगा—दोपहर के समय इर्द-गिर्द की कोठियों के नौकर जेठू की कोठरी में इकट्ठे होते थे। कभी ताश खेलते, कभी चौसर की बाज़ी लगाते, कभी अपने-अपने मालिकों और मालिकिनों की नकलें उतारते। कभी जेठू अपने चचा से तवेवाला बाजा माँग लाता, जो उसने एक कबाड़ी की क्लीयरिंग सेल (clearing sale) में ख़रीदा था। उसकी आवाज़ ऐसे थी जैसे अतिसार का रोगी बच्चा रिरिया रहा हो। किन्तु इस पर भी सब बड़े मजे से उस पर 'गोरी तेरे गोरे गाल पै' या 'तोसे लागी नज़रिया-रे' सुना करते। हाल ही में जेठू चारली का एक नया रिकार्ड ले आया था और दोपहर भर उसकी कोठरी में—

'तेरी नज़र ने मारा !
एक दो तीन चार पाँच छः सात आठ नौ दस ग्यारह
तेरी नज़र ने मारा !'

होता रहता था—लेकिन चन्दन कभी उधर न गया था। उसके पास समय ही न था। प्रातः ही उसका मालिक उसे जगा दिया करता था। वह उसके मालिश करता, उसके लिए नहाने का पानी तैयार करता, चाय बनाता, उसके दफ्तर चले जाने के बाद खाना तैयार करता, दफ़्तर ले जाता, आकर नहाता, खाता और सो जाता—ऐसी गहरी नींद कि प्रायः दिन छिपे तक सोया रहता और कई बार उसके मालिक को दफ़्तर से आकर उसे ठोकर मारकर जगाना पड़ता। किन्तु आज अपनी अनिद्रा से हारकर जब वह दोपहर को जेठू की कोठरी में गया तो उसने ऐसी बातें सुनी कि उसकी रही-सही नींद भी हराम हो गयी।

फुहार के पहले परस से उसके शरीर में झुरझुरी-सी उठी। वह डरा, कहीं उसे ज्वर तो नहीं हो गया ? ऋतु बदल रही है और वह पानी के नीचे खड़ा भीग रहा है। यदि उसे निमोनिया हो गया तो ! उसने सिर को एक बार झटका दिया, पर वह मुस्कराया नहीं और फुहारे को खुला ही छोड़ कर अपनी कोठरी में जाकर लेट गया।

शीघ्र ही उसकी आँख खुल गयी। उसका सिर भारी था। तन जल-सा रहा था और आँखें कुछ कड़ुवी उबली-उबली सी हो रही थीं— उसने फिर एक स्वप्न देखा था—कच्ची नाशपातियों के गुच्छे उसके इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। वह एक सूने वीरान मकान में खड़ा उन्हें पकड़ने का प्रयास कर रहा है, पास ही पानी का एक नल चल रहा है और उसके पास एक बच्चा खड़ा चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा है; 'मेरे खिलौने मत तोड़ो,' 'मेरे खिलौने मत तोड़ो' वह सिर उठाकर देखता है। वह बच्चा कासनी बन जाती है, और चन्दन सुनता है उसका आर्त स्वर—'मेरी नाशपातियाँ मत तोड़ो, मेरी नाशपातियाँ...'

चन्दन उन्मादी की भाँति उठा। जेठू की बातें उसके कानों में गूंज गयीं। उसने कुर्ता पहना। एक पुराने मैले मिट्टी के बर्तन में से पुराना-सा बटुआ निकालकर जेब में रखा। कोठरी की कुण्डी लागयी और धीरे-धीरे कोठी से बाहर निकल गया।

चाँदनी एक रजत-वितान की भाँति प्रेड-ग्राऊंड पर फैली हुई थी और सड़कों के नीम जैसे इस वितान को थामे खड़े थे। उनके पत्तों से बिजली के बल्ब टिमटिमा उठते थे और दूर से देखने पर ऐसा मालूम होता था, जैसे उनके परे कोई धीमा सा आलाव जल रहा है।

चन्दन 'क्वीन मेरी रोड' पर हो लिया। दायीं ओर की कोठी से ककरौंदे, खस, और मौलश्री की मिली-जुली सुगन्धि का एक झोंका आया और सड़क पर पेड़ों के नीचे बिछे प्रकाश और छाया के जाल हिल उठे।

तीस हज़ारी के चौरस्ते पर वह रुका कि शायद कोई ट्रैम आती हुई मिल जाये, किन्तु शायद ग्यारह कभी के बज चुके थे, सड़क बिलकुल सुनसान थी। एक गन्दगी की गाड़ी दुर्गन्ध फैलाती हुई उसके पास से गुज़र गयी। चन्दन का दिमाग़ भन्ना गया। भाग कर वह मिठाई के पुल

पर हो लिया। जिस चबूतरे पर सिपाही खड़ा रहता था, वह टूटा हुआ था। शायद किसी मोटर ड्राइवर ने सिपाही की कर्कशता का बदला उस निरीह चबूतरे से लिया था। पुल पर बिलकुल सन्नाटा था। ऊपर चाँद चमक रहा था और पुल के नीचे अँधेरे और गहराई में रेल की लाइनें और सामने कुछ दूर लाल-हरे सिगनल चुपचाप टिमटिमा रहे थे। चन्दन पुल की दीवार के साथ सिर लगाये क्षण भर तक चुपचाप विमुग्ध-सा इन नागिनों-सी लाइनों और टिमटिमाते हुए सिगनलों को देखता रहा। फिर वह आगे चल पड़ा।

सड़क बिलकुल सुनसान थी, दोनों ओर की दुकानें बन्द थीं और फुटपाथ पर मैले-कुचैले गर्हित लिहाफ़ लिये कहीं-कहीं दुकानदार सोये हुए थे— मैल से सनी काली धोतियों में उनके गौर अङ्ग पूर्णमासी के चाँद की जगमगाती ज्योत्स्ना में और भी चमक रहे थे। तेलीबाड़ा के सामने सड़क के बायीं ओर फुटपाथ पर एक टूटा हुआ ताँगा पड़ा था और दो तीन कूड़े की खाली गाड़ियाँ खड़ी थीं। इसके बाद दूर तक सफेद-सी दीवार चली गयी थी, जिसके पीछे कभी किसी रेलगाड़ी के तेज़-तेज़ गुज़रने की आवाज आ जाती थी। दायीं ओर दुकानों के बाहर कहीं बाँसों के गट्ठे पड़े थे, कहीं चारपाइयाँ और कहीं लकड़ी की खाली पेटियाँ। चन्दन चुपचाप अपने ध्यान में मग्न कुतब रोड के चौरस्ते पर आ गया।

सदर बाज़ार बिलकुल बन्द हो गया था। केवल कोने के हलवाई की दुकान खुली थी। चन्दन की भड़की हुई तबीयत यहाँ तक आते-आते लगभग शान्त हो गयी थी। उसके मन में केवल उत्सुकता की भावना शेष थी। और इसी के अधीन उसने हलवाई की दुकान से आध सेर गर्म-गर्म दूध पिया।

और जैसे नयी उमग पाकर वह आगे बढ़ा।

दोनों ओर की दुकानें बन्द थीं। बायीं ओर के 'माशा अल्लाह होटल' में, जहाँ संध्या के समय इतनी भीड़ होती है कि एक-एक कुर्सी

पर दो-दो व्यक्ति बैठे होते हैं, इस समय निस्तब्धता छायी हुई थी और एक मैले से बेंच पर होटल का एक नौकर बैठा खाना खा रहा था। दायें-बायें कहीं-कहीं किसी पनवाड़ी या हजाम की दुकान खुली थी। एक हेयर कटिंग सैलून में (जिसके तख़्ते पर दिन को रंगरेज़ बैठा करता था) इस समय एक श्रमिक (जिसे शायद दिन में अवकाश न मिलता था) बैठा सिर पर उस्तरा फिरवा रहा था।

काठ बाज़ार के सिरे पर चन्दन क्षण भर के लिए रुका। तांगों के अड्डे पर एक-दो तांगेवाले अभी तक घूम रहे थे। तांगा शैड के ऐन ऊपर चाँद चमक रहा था। धुएँ और गर्द ने चाँदनी को मैला कर दिया था। वह काठ बाज़ार में दाख़िल हुआ और चकित-सा एक चौबारे की ओर देखने लगा, जिसमें गैस की रोशनी के सम्मुख एक 'सुन्दर' वारांगना बैठी थी। चन्दन की भरी हुई उमंग फिर जागी, किन्तु नीचे चौक में अभी तक काफी भीड़ थी। इतने उज्ज्वल प्रकाश और इतने लोगों के सामने उसके लिए मामले की बात करना सर्वथा असम्भव था। उसने नीचे की कोठरियों की ओर देखा। हरेक कोठरी के आगे एक-एक गंदा मैला-सा पर्दा लटक रहा था और उसके बाहर एक-एक लैम्प, जिसके सामने एक-एक स्त्री खड़ी या बैठी थी।

कभी-कभी किसी कोठरी का दरवाज़ा बन्द हो जाता और किसी व्यक्ति के पीछे लैम्प उठाये हुए उस कोठरी की मालिकिन उस मैले गन्दे पर्दे के पीछे चली जाती—पल भर के लिए अपनी उभरी हुई उमङ्ग चन्दन को फिर डूबती हुई प्रतीत हुई और वह ज़रा आगे बढ़कर (मानो सहारे के लिए) एक कुर्सी पर बैठ गया, जो ऐन चौक में बिछी हुई थी और जिसके पास एक मेज़ पर रंग बिरंगी बोतलें रखे एक चम्पी करनेवाला हजाम लड़का खड़ा था।

'चम्पी कराओगे ?'

चन्दन ने अनजाने ही में 'हाँ' कर दी। पास ही एक ओर वैसी ही दुकान सजी थी और उसके परे एक लम्बे बरामदे में अपनी अपनी

कोठरियों के सामने रूप (यद्यपि रूप उनमें से एक के पास भी था, यह कहना मुश्किल है) तथा सतीत्व का व्यापार करने वाली कई वारांगनाएँ खड़ी अपने-अपने ग्राहकों को बुला रही थीं। खड़े-खड़े थक जाने के डर से या अपने वक्ष का उभार दिखाने के लिए उन्होंने छत से रस्सियाँ लटका रखी थीं, जिनके सहारे वे खड़ी हो जाती थीं।

चन्दन के सिर में तेल गिरने से एक लिजलिजी सी सरसराहट हुई और हजाम लड़का चम्पी करने लगा। चम्पी करने के बाद चन्दन के मस्तक और गर्दन को उसने एक अत्यन्त गन्दे तौलिये से पोछ कर बाल बना दिये।

चन्दन जब वहाँ से उठा तो उसे नाक मे सस्ते खुशबूदार तेल की तीखी गध आ रही थी और उसकी उमंग फिर जैसे जग उठी थी। चौक छोड़ वह एक गली में हो गया। यहाँ लोग कम थे और रोशनी भी इतनी तेज़ न थी। वह एक बार गली के दूसरे सिरे तक जाकर मुड़ आया। उसे समझ न आती थी कि वह कैसे बातचीत शुरू करे। वह तो उनसे आँखें भी न मिला पाता था। ध्यान-मात्र ही से उसका दिल धक् धक् करने लग जाता था। उसने सोचा, वापस चला जाये। उसे जेठू के साथ आना चाहिए था और उसके मन में आई कि गली को पार करके वह दूसरे रास्ते से निकल जाये। किन्तु इतनी दूर आकर वह जाना भी न चाहता था। उसी समय एक कोठरी के आगे कुछ अँधेरे में बैठी हुई एक मोटी थल-थल पिलपिल स्त्री ने उसकी मुश्किल आसान कर दी। उसके पास दो छोटी-छोटी लड़कियाँ फर्श पर ही दरी बिछाये लेटी हुई थीं—बिलकुल कासनी ही की वयस की—'आओ आओ, इधर आओ "। प्यार से उसने कहा।

चन्दन बढ़ा।

बड़े धीमे भेद-भरे स्वर में उसने कहा—'आओ, सोचते क्या हो ? बारह आने...'

इशारा उसी कोठरी के बाहर बैठी हुई स्त्री की ओर था, जो केवल

एक काली बनयान और काली साड़ी पहने लोहे की कुर्सी पर बैठी थी। जिसकी बगलों में बाल तक दिखायी देते थे और जिसकी छातियाँ ढली हुई ककड़ी की भाँति लटक रही थीं।

चन्दन ने उसके पास धरती पर आधी लेटी और आधी बैठी लड़की की ओर आकांक्षा भरी दृष्टि से देखा। उसकी नाक में छोटी-सी नथ भी थी और उसने जेठू से सुना था कि इन लोगों में यह नथ कौमार्य्य का चिन्ह होती है।

समझ कर मोटी स्त्री ने कहा—'यह तो अभी बहुत छोटी है, यह अभी यह सब क्या जाने ?'

चन्दन के मस्तिष्क में कच्ची नाशपातियाँ घूम गयीं, फिर कासनी और फिर कच्ची नाशपातियाँ।

और मोटी स्त्री ने कहा—'दो रुपये लगेंगे।

चन्दन चुप रहा। वह कहना चाहता था, 'दो रुपये बहुत हैं।'

तभी मोटी स्त्री ने कहा, 'अच्छा तो डेढ़ सही। अभी तो नथ भी नहीं उतरी।'

चन्दन की नसों में दूध उबलने लगा। उसका शरीर गर्म होने लगा। दूसरे क्षण वह गन्दे मैले पर्दे के अन्दर चला गया और उसके पीछे-पीछे लैम्प और उस लड़की को लिये हुए वह मोटी स्त्री!

एक सप्ताह बाद सिर पर अपना बोरिया-बिस्तर उठाये चन्दन पोर्च में खड़ा था और अन्दर कमरे में उसके मालिक अपनी पत्नी को आदेश दे रहे थे—मैं अभी डाक्टर को भेजता हूँ। सब मकान को डिस-इन्फ़ेक्ट (disinfect) करवा लेना। सब जगह तो जाता रहा है कम्बख्त!

और चन्दन बेबसी की दशा में खड़ा सोच रहा था, 'पर लड़की की आयु तो तेरह वर्ष की भी न होगी और उसकी तो अभी नथ भी न उतरी थी।'

३२४

मोटरें अड्डे पर आकर रुकीं। कुलियों की दुनिया में हलचल मच गयी। बैठे हुए खड़े हो गये, खड़े दौड़ पड़े, मानो धन की वर्षा हो गयी हो, कोई स्वर्गीय विभूति उन के मध्य में आ गिरी हो। मिन्टों में मैले, फटे, जर्जर कपड़े पहने बीसियों कुली मोटरों को घेर कर खड़े हो गये। बहुतों ने अपने पीतल के नम्बर भी मोटर में फैंक दिये।

पहली मोटर में बैठे हुए मिस्टर वाल्टन और उनका छोटा सा परिवार पीतल के टुकड़ों की उस वर्षा से घबरा उठा। दूसरे क्षण कुमारी वाल्टन तिनक कर मोटर में खड़ी हो गयी। उस की युवा आँखों से क्रोध के डोरे दौड़ गये। रोष से मुख सुर्ख हो गया। उसने सब नम्बरों को उठाया और कुलियों के मुँह पर दे मारा। एक पीतल का नम्बर वाल्टन साहब की गोद में पड़ा था। उसे उठाते हुए ज्यों ही सुन्दर वाल्टन ने फैंकने के लिए हाथ उठाया कि एक कुली—सुन्दर, युवा, बलिष्ठ दूसरों को हटाते हुए मिस वाल्टन के सामने आ खड़ा हुआ—कुछ बेपरवाह-सा, कुछ उखड़ा-उखड़ा-सा, कुछ व्यथित सा। युवती की

सरोष आखे, उसकी करुणाभरी आँखों से चार हुईं। उस ने नम्बर नहीं फेंका और चुप अपने स्थान पर बैठ गया। कुली और समीप आकर मोटर के पास खड़ा हो गया साहब अपनी पत्नी को लेकर दूसरे दरवाज़े से उतर गये।

कुमारी वाल्टन ने सिर से पाँव तक उस कुली को देखा और दूर तक दृष्टि दौड़ायी। इन चीथड़ों में लिपटे हुए, आधी नगी टाँगों और बाहों वाले कुलियों में, जिनके पैरों में सेर-डेढ़-सेर के बेडौल चप्पल पड़े हुए थे और घुटनों तक मैल चढ़ी हुई थी; जिनके चेहरों की आकृति शुष्क और सख्त थी और जिन की आँखों के पपोटे धूल से स्याह हो रहे थे—इन सब कुलियों में कौन उस जैसा साहसी, सुन्दर, और बलिष्ठ था? उस ने देखा, कुली की गोरी-गोरी बाहों पर अधिक बोझ उठाने के कारण मछलियाँ पड़ गयी हैं और नीली नीली नसें फूल उठी हैं। उस के सिर पर टोपी नहीं थी। गले में एक साफ़ लेकिन आस्तीन और गरेबां की क़ैद से स्वतन्त्र कुर्ता पड़ा हुआ था।

"तुमारा नाम?"

"३२४"

"नम्बर नहीं, नाम।"

"हैदर।"

"हैडर! कितना बोझ उठने सकेगा?"

"बहुत काफी मिस साहब।"

ड्राइवर ने दरवाज़ा खोला। कुमारी वाल्टन खट-खट नीचे उतरी।

"वह प्यानो उठाने सकेगा?" उसने मुस्कराते हुए कहा।

हैदर ने अपनी दृष्टि उस ओर उठायी और मुख पर बिखरे हुए बालों की लटों को परे हटाया। कार के पीछे एक दूसरे ट्रक में वह बड़ा प्यानो रखा था और चार-पाँच कुली उसे नीचे उतारने का प्रयास कर रहे थे।

उसने उत्तर दिया—"हाँ, उठा लूगा।"

यह कहते समय उसे प्यानो के वज़न का ध्यान आया, किन्तु इसके साथ ही उसकी आँखों के सम्मुख अपने घर की बेबसी की तसवीर खिंच गयी, साथ ही उसे अपनी बात का भी ध्यान आया। अब इनकार करके उस सुन्दर लड़की की नज़रों में दुर्बल बनना उसे स्वीकार न था। वह आगे बढ़ा।

सुरीली तानें अलापने वाला प्यानो, जिसके लिए कुमारी वाल्टन एक कमरा अलग कर दिया करती थी, उतारकर धरती पर रख दिया गया और दो तीन 'हातो'* उसे उठाने के लिए तैयार हुए।

"इसे यह कुली उठायेगा," कुमारी वाल्टन ने आगे बढ़कर कहा। साहब ने हैदर पर नख से शिख तक दृष्टि डाली और बोले—"यह अकेला।"

"हाँ।" और हैदर की ओर देखकर मुस्कराती हुई कुमारी वाल्टन बोली—'क्यों उठायेगा अकेला ? हम ईनाम बी डेगा।"

हैदर का सीना फूल उठा—"हाँ, मिस साहब।" हाँ कहकर न कहना जवानी ने नहीं सीखा।

"टीन माईल जायगा ?"

"ले जाऊँगा।"

"हम टुमें बहुट ईनाम डेगा।" और उत्सुक दृष्टि से कुमारी वाल्टन उस बलवान कुली की ओर देखने लगी। देखते देखते हैदर ने प्यानो के इर्द-गिर्द रस्सा लपेट दिया। जो 'हातो' उसे उठाने के लिए आगे बढ़े थे, पीछे हट गये। दो आदमियों की सहायता से हैदर ने प्यानो पीठ पर लाद लिया। उसकी कमर दोहरी हो गयी, माथे पर पसीना आ गया। अपनी छोटी-सी लठिया के सहारे वह चल पड़ा।

"मर जायगा ससुरा !" एक हातो ने कहा

---

*शिमले में काश्मीर और नाहन के कुली 'हाते' कहलाते हैं।

पों पों करती हुई दूसरी मोटर-गाड़ी आ खड़ी हुई और सब उसकी ओर दौड़ पड़े।

कुमारी वाल्टन वहाँ खड़ी की खड़ी रह गयी। वह सोच रही थी—'इतना बड़ा प्यानो, जिसे चार आदमी कठिनाई से उठा पाते हैं, इस अकेले हैदर ने उठा लिया। यह योरप में होता, तो बोझ उठाने का रिकार्ड मात करके सहस्रों रुपया कमा लेता। उसके युवा हृदय में इस कुली के लिए सहानुभूति का समुद्र उमड़ आया। परन्तु यह सहानुभूति उसके फटे कपड़ों, उसके व्यथित मुख, उसकी बेबसी को देख कर नहीं पैदा हुई थी। वह उस सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखती थी, जहाँ ये बातें सहानुभूति खरीदने के बदले उपेक्षा मोल लेती हैं। पर बहादुर से, सुन्दर से हमदर्दी हो जाना स्वाभाविक है और फिर युवा रमणी के हृदय में— वह हृदय चाहे अँग्रेज़ी रमणी का हो अथवा भारतीय का।

रिक्शा उसके समीप आकर खड़ी हो गयी। वाल्टन साहब ने तीन रिक्शाओं के लिए आर्डर दिया था। कुमारी वाल्टन सबसे अगली रिक्शा में बैठ गयी, उससे पिछली में उसकी माँ। सबसे अन्तिम रिक्शा में साहब स्वयं बैठे। पाँच-सात कुली दूसरा सामान उठाकर साथ-साथ चलने लगे।

वाल्टन साहब रिटायर्ड इञ्जीनियर थे। पेन्शन मिलती थी। परिवार भी बडा नहीं था। मज़े से बसर होती थी। शिमले में उन्होंने दो-तीन कोठियाँ बनवा ली थीं। किराया भी आ जाता था। उनकी निजी कोठी का नाम 'कैनमोर काटेज' था। वह छोटे शिमले से ज़रा दूर एक सुरम्य जगह में बनी हुई थी। आगे छोटी सी वाटिका थी। अपना फ़ुर्सत का समय वाल्टन साहब भाँति-भाँति के पौधे लगाने में बिताते थे। उन्हें इसमें बड़ा आनन्द मिलता था। कभी कभी उनकी पुत्री भी इस काम में उनका हाथ बँटाती। उसे अपने ही अनुरूप देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती। एक माली भी रखा हुआ था, परन्तु वह सर्दियों में बग़ीचे की

देख-भाल करता। गर्मियों में साहब स्वयं दिल्ली से आ जाते; तब उनका काफ़ी समय अपने बगीचे में ही बीतता।

कुमारी वाल्टन को प्यानो बजाने में कमाल हासिल था। जहाँ एक दो महीने के लिए जाना होता, वहीं उसे वह ले जाती। वह प्यानो उसने ख़ास तौर पर विलायत से मँगाया था। साधारण प्यानो से वह तिगुना बड़ा था। सुरीला इतना था कि जब कुमारी वाल्टन का मीठा स्वर उससे मिल जाता, तब सोने पर सुहाग हो जाता! सर्दियों में यह छोटा कुनबा दिल्ली चला जाता और गर्मियों में शिमले आ जाता।

हैदर साँस लेने के लिए रुका। शिमले में सड़कों के किनारे सीमेंट के चबूतरे बने हुए हैं, ताकि कुली लोग वहाँ बोझ रखकर सुस्ता लिया करें। कुमारी वाल्टन अपने विचारों में मग्न थी। हैदर को रुकते देखकर रिक्शा से कूद पड़ी। साहब और उनकी पत्नी उससे बहुत आगे निकल चुके थे। उसने हैदर से कहा—"क्यों ठक गया, कहा था मत उठाओ। टुम ठक जायगा, लेकिन माना नहीं।"

हैदर बिना विश्राम किये फिर चल पड़ा। किसी युवती के सामने थकने का नाम लेना और फिर बहादुरी का दम भरना!

"शाबाश!" कुमारी वाल्टन उसके साथ चलती हुई बोली—"टुमने ने हमको बहुत खुश किया। अगर टुम आराम लिये बीना इसे बॅंगला टक ले गिया टो हम टुमें बहूट ईनाम डेगा, जो माँगेगा ओ डेगा।"

बायें हाथ में लठिया पकड़कर उसके सहारे रुककर हैदर ने दायें हाथ से मस्तक से पसीना पोंछा और चल पड़ा। उसके पाँव मन-मन भर के हुए जाते थे। उसके समस्त शरीर से पसीना छूट रहा था। अपनी ज़िन्दगी में उसने अभी तक इतना बोझ नहीं उठाया था। किन्तु मिस साहब प्रसन्न हो गयी थीं। यदि वह उस प्यानो को वहाँ तक पहुँचा देगा, तो वे अवश्य ही उसे दो-तीन रुपये देंगी। हो सकता है, उसे

अपने यहाँ नौकर ही रख लें। तब तो उसका जीवन बन जाये। वह अमीना को सुख दे सके। अपनी उस प्यारी अमीना को, जिसने उसके लिए अमीरी से ग़रीबी मोल ली थी; अपने धनवान माता-पिता को छोड़कर सुख-भोग को लात मारकर जो उसके साथ हो ली थी और जो उससे कितनी मुहब्बत करती थी! उसे सब याद था--वह दिन, जब लाहौर में स्टेशन से सामान उठाकर वह एक गली के बड़े-से मकान में ले गया था और बुरके को उठाकर हश्र बरपा कर देने वाली दो आँखों ने उसे देखा था। उसे याद था कि किस तरह वे आँखें उस पर मेहरबान हो गयी थीं; किस तरह उसे आँखों ही आँखों में मुहब्बत का सन्देश मिला था; किस तरह उसने कुली का काम छोड़ वहाँ उसी गली में पान की दुकान की थी; किस तरह अमीना उसके साथ भाग आयी थी और किस तरह उसे क़ैद से बचाने के लिए उसने भरी अदालत में उसके साथ रहने का प्रण किया था। सब—वे दिन, वे रातें, वे घड़ियाँ, वे पल, मुहब्बत के प्यार के, दुःख के, सन्तोष के-कल की बात की तरह याद थे। वह कमाता था अमीना को सुख देने के लिए। अपनी उसे कुछ परवाह न थी। वह सोचता, यदि मेरे पास कुछ रुपया होता, कुछ थोड़ा-बहुत ही, तो अमीना को लेकर कहीं दूर किसी छोटे से क़स्बे में कोई दुकान कर लेता। लेकिन रुपया आता कहाँ से? अमीना के साथ भागने के बाद उसकी रही-सही पूंजी भी उड़ गयी थी, और विवश होकर उसे फिर श्रमजीवी बनना पड़ा था। वह दिन में दो रुपये कमा लेता। उसके शरीर में शक्ति थी, बाहों में बल था। काश्मीर और नाहन हातो भी उस बोझ उठाते देखकर दङ्ग रह जाते। अमीना कहती—"मुझे तुम्हारे साथ सूखी रोटी पसन्द है। तुम बहुत तकलीफ़ न सहा करो।" परन्तु वह उसकी बातों पर कान न देता। उसे एक ही धुन थी, एक ही लगन थी—कुछ रुपया-पैसा पैदा करना और बस—उसके बाद वह इस पेशे को सदा के लिए छोड़ देगा। अमीना उसके कपड़े धो

देती। जब वह सन्ध्या को थक कर आता, तब उसके पाँव दबाती। सहस्रों व्यय करने पर भी ऐसी पति-परायणा स्त्री न मिलती। वह उसे पाकर भी सुखी न था। जब वह देखता कि उसकी अमीना उस अँधेरी कोठरी में सारा दिन बन्द रहने से पीली हुई जा रही है, तब उसका हृदय खून के आँसू रोता। वह उसे शीश-महलों में, सगमरमर के प्रासादों में, रेशमी वस्त्रों से आवृत रखना चाहता था, पर उसकी आकांक्षाएँ उस बेपर पक्षी की आशाओं की तरह थीं, जो गहरे खड्ड में गिर कर ऊपर पहाड़ की चोटी पर उड़ना चाहता हो। हैदर ने एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ा। बोझ के कारण उसका सीना दुख उठा। उसे ज्ञात था, इस समय जब वह बोझ उठाये चला जा रहा है, अमीना भी काम करती होगी। उसने ग़लीचा बुनना सीखा था। दोनों कुछ रुपया पैदा करना चाहते थे, जिससे कोई काम कर सकें। उन्हें आशा थी कि इस वर्ष के बाद तक उनके पास छोटा-मोटा व्यवसाय आरम्भ करने के लिए पर्याप्त धन हो जायगा।

हैदर सोच रहा था—'कौन जाने यह लड़की प्रसन्न होकर मुझे अपने यहाँ किसी काम पर नौकर रख ले? उस सूरत में मेरी अभिलाषा बहुत जल्दी पूरी हो जाये। अभी हमें कोठरी का किराया भी देना पड़ता है और ख़र्च भी बहुत होता है। फिर रोटी और रहायश का ग़म न रहे। थोड़ा। बहुत सरमाया जमा कर लें और तब किसी छोटे-से नगर में जाकर बसें। मैं हूँ और अमीना का अटूट प्रेम और बस—इसी भाँति यह जीवन-लीला समाप्त हो जाये!' पर यह प्यानो वहाँ पहुँचा भी सकेगा? यदि वह सुस्ता लेता, तो शायद पहुँचा भी देता। परन्तु बिना साँस लिये तीन मील चलना सर्वथा असम्भव है। मोटरों के अड्डे से सड़क पर आते-आते ही उसके प्राण सूख गये थे। उसका शरीर शिथिल हो रहा था। उसने सोचा, 'प्यानो रख दूँ।'

उसी समय कुमारी वाल्टन ने कहा—"शाबाश हैडर, शाबाश टुम प्यानो को बँगला टक पहुँचा गया, टो बहुट ईनाम डेगा। डस रुपया गा, बीस रुपया डेगा।"

सुनकर हैदर के मुर्दा शरीर में जान पड़ गयी। आशा ने फिर संजीवनी का काम किया—वह फिर चल पड़ा।

वह रिक्शा छोड़कर उसके साथ चली आ रही थी। सोलह सत्रह वर्ष की आयु, पतला सी कमर, शरीर के साथ चिपटा हुआ फ्राक, लम्बा क़द, ऊँची एड़ी के कारण उठे हुए छोटे-छोटे पाँव, गोरी बाँहें, तीखे नक्श और मुख पर उत्सुकता। इस तरह चली आ रही थी, मानो हैदर को नहीं, उसे ही इनाम जीतना हो। वह सोचती, ऐसे बहादुर भी कहाँ। यह पुरुष जहाँ भी जायेगा, नाम पायेगा। सेना में भर्ती हो जाता, तो अब तक कप्तान बन जाता। फ़ुटबाल खेलता, तो कोई उसका मुक़ाबिला न कर सकता। इतना बोझ ! इसे उठाना ही बड़ा काम है, फिर इसे उठाकर तीन मील चलना ! उसने हैदर की ओर एक स्नेह भरी दृष्टि डाली। वह उसे अपना सब कुछ दे दे। इस बहादुर कुली पर निछावर होने के लिए उसका हृदय बेताब हो उठा।

एक साहब थे ब्राउन। कुमारी वाल्टन की मुहब्बत का दम भरते थे। उसे ख़्याल आया यदि उनको यह प्यानो उठाना पड़े, तो उनका कचूमर ही निकल जाये। इस विचार के आते ही उसके लाल अधरों पर मुसकराहट दौड़ गयी।

"शाबाश हैदर !" उसने हैदर को रुकते हुए देख कर कहा और फिर ध्यान में मग्न हो गयी। कभी कभी कोई व्यक्ति हैदर को अकेले इतना बड़ा प्यानो उठाये और अँग्रेज़ युवती को उसके साथ इस भाँति जाता देख कर आश्चर्य से एक क्षण के लिए खड़ा हो जाता और फिर अपनी राह चला जाता।

छोटे शिमले का डाकख़ाना आ गया था। हैदर की टाँगें जवाब देती हुई प्रतीत हुईं, उसे अपने हवास गुम होते हुए दिखाई दिये। बस इससे आगे वह न जा सकेगा। इतनी दूर तक ही वह कैसे आ गया। वह इसी पर विस्मित था। अब आगे उससे न जाया जायेगा। उसके पाँवों में शक्ति ही नहीं, उसके शरीर में जान ही नहीं। उसकी आँखें बन्द-सी

हुई जाती थीं। उसे अपने स्वप्नों के समस्त गढ़ गिरते हुए प्रतीत हुए।

उस समय कुमारी वाल्टन की मीठी, मधुर, मादक सहानुभूति से युक्त, जीवन दायिनी आवाज़ सुनायी दी।

"हैडर थक गया? बस, दो फ़र्लाङ्ग और! टुम जीट जायगा," लेकिन हैदर नहीं हिला।

कुमारी वाल्टन को अपनी कल्पनाओं का प्रासाद गिरता दिखाई दिया। यदि हैदर वह बाज़ी न जीत सका तो वह सब श्रद्धा, जो उसके हृदय में उसके लिए उत्पन्न हुई थी, उड़ जायगी। उसने फिर एक बार कहा—

"हैदर, हम तुम्हारे लिए सब कुछ करेगा, टुमें सेना में भर्ती करा डेगा, टुमे नौकर रख लेगा। टुमें पियार करेगा। बस, डो फ़र्लाङ्ग, बक अप, बक अप!" और हैदर चल पड़ा, जैसे कुमारी वाल्टन के स्वर में बिजली का प्रभाव हो।

बँगला आ गया। माली और नौकरों ने दौड़ कर उसका स्वागत किया। एक ने हैदर को बोझ तले दबे हुए देख कर उसे सहारा देना चाहा। हैदर ने सिर के संकेत से उसे हटा दिया। उसे बँगले के आ पहुँचने का मध्यम-सा ज्ञान था और अब यहाँ तक आकर अपने किये कराये पर पानी न फेरना चाहता था। उस की टाँगों में स्फूर्ति आ गयी। वह तेज़ चलने लगा। मंज़िल के निकट पहुँच कर पथिक की चाल तेज़ हो भी जाती है।

बँगले पर पहुँच कर कुमारी वाल्टन सीधे उस कमरे में गयी, जो प्यानो के लिए रिज़र्व था। नौकरों की सहायता से प्यानो वहाँ रख कर हैदर विजयी की भाँति सीधा खड़ा हो गया। उस का मुख चमक उठा। साहब दूसरे कमरों में सामान रखवा रहे थे। उनकी आवाज़ पर नौकर उधर भागे। उसी क्षण हैदर का सिर चकराया और वह कौच पर बैठ गया।

अपने रेशमी रूमाल से उसके मुख का पसीना पोंछते हुए कुमारी

वाल्टन ने क्षणिक आवेश के वश उस के गोरे मस्तक को चूम लिया और गाउन से बटुआ निकाल कर बीस रुपये के नोट उसके हाथ पर रख दिये। किन्तु नोट गिर पड़े। कुमारी वाल्टन ने सशंक नेत्रों से उस की ओर देखा—हैदर की आँखें खुली हुई थीं और उसका शरीर अकड़ गया था।

कुमारी वाल्टन हैरान सी, भौंचक्की-सी, निर्निमेष से उस की ओर तकती रह गयी।

उस समय रिक्शा वाले ने एक पीतल का टुकड़ा भीतर फेंका।

"मिस साहब, यह नम्बर रिक्शा ही में रह गया था।"

कुमारी वाल्टन ने दौड़ कर उठा लिया। मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था—'३२४'।

"पुअर हैदर!" दीर्घ-निश्वास के साथ कुमारी वाल्टन के मुख से निकला और उस की आँखें सजल हो गयीं।

पहेली

रामदयाल पूरा बहुरूपिया था। भेस और आवाज़ बदलने में उसे कमाल हासिल था। कालेज में पढ़ता था तो वहाँ उसके अभिनय की धूम मची रहती थी; अब सिनेमा की दुनिया में आ गया था तो यहाँ उसके चर्चा थे। कालेज से डिग्री लेते ही उसे बम्बई की एक फ़िल्म-कम्पनी में अच्छी जगह मिल गयी थी और अल्प-काल ही मे उसकी गणना भारत के श्रेष्ठ अभिनेताओं में होने लगी थी। लोग उसके अभिनय को देखकर आश्चर्य-चकित रह जाते थे। उसके पास प्रतिभा थी, कला थी और ख्याति के उच्च शिखर पर पहुँचने की महत्वकांक्षा! इसीलिए जिस पात्र की भूमिका में काम करता, बहुरूप और अभिनय में वह बात पैदा कर देता था कि दर्शक अनायास ही 'वाह-वाह' कर उठते और फिर हफ्तों उस की कला की चर्चा लोगों में चला करती।

दो महीने हुए, उसकी शादी हुई थी। बम्बई की एक निकटवर्ती बस्ती में छोट-सी एक कोठी किराये पर लेकर वह रहने लगा था। कभी समय था कि वह निर्धन कहाता था, परन्तु अब तो वह धन-सम्पत्ति में

खेलता था । रुपये की उसे क्या परवाह थी ? उसका विवाह भी उच्च घराने में हुआ था। पत्नी भी सुन्दर और सुशिक्षित मिली थी। जिस प्रकार बादल सूखी धरती पर अमृत की वर्षा करके उसे तृप्त कर देता है, उसी प्रकार निर्धनता से सूखे हुए रामदयाल के हृदय को विधाता ने वैभव की वर्षा से सींच दिया था।

सन्ध्या का समय था। साये बढ़ते-बढ़ते किसी भयानक देव की भाँति संसार पर छा गये थे। रामदयाल लायब्रेरी में बैठा था। अभी तक कमरे में बिजली न जली थी, और वह किवाड़ के समीप कुर्सी रखे एक लेख पढने में निमग्न था।

चपरासी ने बिजली का बटन दबाया। क्षणभर में रोशनी से कमरा जगमगा उठा। रामदयाल ने रूमाल से ऐनक को साफ किया और फिर लेख पर अपनी दृष्टि जमा दी। वह 'नवयुग' का 'महिला-अंक' देख रहा था। अंक देखना तो उसने योंही शुरू किया था, परन्तु एक लेख था कुछ ऐसा रोचक था कि एक बार जो पढना आरम्भ किया तो समाप्त किये बिना जी न माना।

लेख में किसी अभिनेता के अभिनय की विवेचना न थी। छद्मवेष कला पर कोई नयी बात न लिखी गयी थी। एक सीधा-साधा लेख था, जिसमें नारी स्वभाव पर एक नूतन दृष्टि-कोण से प्रकाश डाला गया था। एक सर्वथा नयी बात थी। लिखा था—

"स्त्री प्रेम की देवी है। वह अपने प्रिय पति के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर सकती है। वह उसकी पूजा कर सकती है, पर यदि उसका पति उसके प्रेम की अवहेलना करे, उसकी मुहब्बत को ठुकरा दे तो अवसर मिलने पर वह अपने प्रेम की तृषा बुझाने के लिए किसी दूसरी चीज़ को ढूंढ़ लेती है—चाहे वह चल हो वा अचल, सजीव हो वा निर्जीव ! यही प्रकृति का नियम है।"

रामदयाल उठा और गम्भीर मुद्रा धारण किये हुए पुस्तकालय के बाहर निकल आया।

सड़क रोशनी में नव-वधू की भाँति सज रही थी। रामदयाल अपने हृदय की गति के समान धीरे-धीरे चला जा रहा था। उसे देखकर कौन कह सकता था कि यह वही प्रसिद्ध अभिनेता है, जो अपनी कला से भारत भर को चकित कर देता है!

उर्मिला (उसकी पत्नी) अनुपम सुन्दरी थी, कल्पना से बनी हुई सुन्दर प्रतिमा सी! मीठे मादक स्वर के रूप में विधि ने उसे जादू दे डाला था। संगीत-कला में उसने विशेष क्षमता प्राप्त कर ली थी और यह गुण सोने में सुगंध का काम कर रहा था। जब भी कभी वह अपनी कोमल अँगुलियों को सितार के पर्दों पर रखती और कान उमेठकर तारों को छेड़ती तो सोये हुए उद्गार जाग उठते और कानों के रास्ते मिठास और मस्ती का एक समुद्र श्रोता की नस-नस में व्याप्त होकर रह जाता। रामदयाल उस पर जी-जान से मुग्ध था और वह भी उसे हृदय की समस्त शक्तियों से प्यार करती थी। दोनों को एक दूसरे पर गर्व था, किन्तु यह सब कुछ स्थायी न हो सका। असार संसार में कोई वस्तु स्थाई हो भी कैसे सकती है? मनोमालिन्य की आँधी ने मुहब्बत के इस छोटे-से पौधे को क्षण भर में बर्बाद कर दिया।

उर्मिला नीचे ड्राइंगरूम में बैठी थी। वह रामदयाल की प्रतीक्षा कर रही थी। सामने के भवन में आज कोई युवक घूम रहा था। वह कुतूहलवश उसे भी देख रही थी। उसके कान सीढ़ियों की ओर लगे हुए थे, परन्तु आँखें उस युवक को बेचैनी से घूमते देख रही थीं। यह कोठी कई दिनों से ख़ाली थी, परन्तु अब कुछ दिन से इसे किसी ने किराये पर ले लिया था और उसने दो-तीन बार किसी युवक को बिजली के प्रकाश में घूमते देखा था। ऐसा प्रतीत होता था, जैसे वह बेचैन हो, जैसे आकुलता उसे बैठने न देती हो।

अँगीठी पर रक्खी हुई घड़ी ने टन-टन-नौ बजाये। सामने के भवन

में रोशनी बुझ गयी। उर्मिला अपने आपको अकेली-सी महसूस करने लगी। उसने सितार उठाया, उसकी कोमल अंगुलियाँ, उसके पर्दों पर थिरकने लगीं, उसके अधर हिले और दूसरे क्षण एक करुणापूर्ण गीत वायुमण्डल में गूंज उठा—

'सखि इन नैनन ते घन हारे'

स्वर में दर्द था, लोच था और लय थी, सीने में प्रतीक्षा की आग थी। वह तन्मय हो गयी, अपनी मधुर-ध्वनि में खो गयी और उसे यह भी मालूम न हुआ कि रामदयाल कब आया और कब तक किवाड़ की ओट में खड़ा उसे देखता रहा।

वह गाती गयी, बेसुध होकर गाती गयी। उसकी आँखें सितार पर जमी हुई थीं, उसके कान सितार के मादक स्वर में डूब गये थे। रामदयाल की भृकुटी तन गयी और वह चुपचाप मुड़ गया। खाने के कमरे में उसने दासी से खाना मँगाया और खाकर सोने चला गया। उर्मिला गाती रही, अपने दर्द भरे गीत को वायु के कण-कण में बसाती रही। देवता आया और चला गया, पुजारी उसकी पूजा ही में व्यस्त रहा।

दूसरे दिन रामदयाल प्रातः ही घर से चला गया और बहुत रात गये घर लौटा। उर्मिला दौड़ी-दौड़ी गयी और गंगासागर में पानी ले आयी।

रामदयाल के चेहरे से क्रोध टपक रहा था।

"आप इतनी देर कहाँ रहे!"

रामदयाल चुप।

उर्मिला ने पानी का भरा हुआ गंगासागर आगे रख दिया। घर में दो दासियाँ तो थीं, परन्तु पति की सेवा वह स्वयं किया करती थी। रामदयाल जब सन्ध्या को घर आया करता तो वह उसका हाथ-मुँह धुलाती, तश्तरी में कुछ मेवा को लाती और स्टूडियो की ख़बरें पूछती।

रामदयाल ने हाथ न बढाये। वह चुपचाप खड़ी उसकी गम्भीर मुद्रा को देखती रही।

उसका हृदय धड़कने लगा। बीसियों प्रकार की शंकाएँ उसके मन में उठने लगीं। उसने उन्हें बुलाने का इरादा किया, किन्तु झिड़क न दें, यह सोचकर चुप हो रही। आशा ने फिर गुदगुदी की, निराशा ने फिर दामन पकड़ लिया। मनुष्य के हृदय में जब सन्देह उत्पन्न हो जाता है तो निराशा हमदर्द की भाँति समीप आ जाती है और आशा मरीचिका बनकर दूर भाग जाती है। फिर भी उसने साहस करके पूछा—

"जी तो अच्छा है?"

"चुप रहो!"

"स्वामी?"

"मैं कहता हूँ; खामोश रहो!"

उर्मिला खड़ी की खड़ी रह गयी। निराशा ने आशा को ठुकरा दिया और अब उसमें उठने का भी साहस न रहा।

उसे कल की घटना याद हो आयी, परन्तु साधारण-सी बात पर इतना क्रोध! वह समझ न सकी। उन्हें तो इस बात पर प्रसन्न होना चाहिए था। नहीं, यह बात नहीं। उससे अवश्य कोई दूसरी अवज्ञा हो गयी है। हो सकता है, किसी से झगड़ पड़े हों अथवा कोई दूसरी घटना घटी हो। अशुभ की आशंका से उसका मन उद्विग्न हो उठा। उसके चरणों पर झुकते हुए उसने कहा—"दासी से कोई अपराध हो गया हो तो क्षमा कर दे।"

रामदयाल ने पाँव खींच लिये, उर्मिला मुँह के बल गिरी। वह सोने चला गया।

उर्मिला बहुत देर तक उसी तरह बैठी रही और फिर लेटकर धरती में मुँह छिपाकर आँसू बहाने लगी। उसे विश्वास न होता था कि उसके पति ने इतनी सी बात पर उसे नज़रों से गिरा दिया है।

रामदयाल के प्रति उसके मन में कई प्रकार के विचार उठने लगे। उसने उन्हें आज तक शिकायत का मौक़ा न दिया था। उसने उनकी साधारण-सी बात को भी सिर-आँखों पर लिया था, फिर यह निरादर क्यों?

उसे शंका होने लगी, 'कोई अभिनेत्री उनके जीवन-वृक्ष को विष से सींच रही है,' किन्तु दूसरे क्षण अपने इन विचारों पर उसे घृणा हो आयी। ग्लानि से उसका सिर झुक गया।' रामदयाल चाहे किसी के मोह में फँस जाये, परन्तु उर्मिला के लिए ऐसा सोचना भी पाप है। तो फिर वह अपने पति से इस अन्यमनस्कता का कारण ही क्यों न पूछ ले? क्या उसे इस बात का अधिकार नहीं? वह सहधर्मिणी नहीं क्या? अर्धाङ्गिनी नहीं क्या? यह सोचकर वह उठी। उसके शरीर में स्फूर्ति का संचार हो आया। वह जायेगी, अपने पति से इस क्रोध का कारण पूछकर रहेगी और उस समय तक न छोड़ेगी, जब तक वे उसे सब कुछ न बता दें, या अपनी भुजाओं में भींच कर यह न कह दें—मैं तो हँसी कर रहा था!

उसके मुख पर दृढ़-संकल्प के चिह्न प्रस्फुटित हो गये। वह उठी और धीरे-धीरे रामदयाल के कमरे में दाख़िल हुई। वह लेटा हुआ था। उसके चेहरे पर एक गम्भीर मुस्कराहट खेल रही थी—अव्यक्त-वेदना की अथवा गुप्त उल्लास की, कौन जानें?

उर्मिला के आते ही वह उठ बैठा। उसने कड़ककर कहा—"मेरे कमरे से निकल जाओ, जाकर सो रहो, मुझे तंग मत करो।"

"क्या अपराध......"

"मैं कहता हूँ, चली जाओ!"

उर्मिला खड़ी की खड़ी रह गयी। जैसे किसी जादूगरनी ने उस के सिर पर जादू की छड़ी फेर दी हो। वह स्फूर्ति और संकल्प, जो कुछ देर पहले उसके मन में पैदा हुए थे, सब हवा हो गये। इच्छा होने पर भी वह दोबारा न पूछ सकी। उदासी का कारण पूछना, उस

अकारण क्रोध का गिला करना, अपने क़सूर की माफ़ी माँगना, सब कुछ भूल गयी। कल्पनाओं के भव्य प्रासाद पल भर में धराशायी हो गये!

वह चुपचाप वापस चली आयी और सारी रात गीले बिस्तर पर सोये हुए मनुष्य की भाँति करवटें बदलती रही। नींद न-जानें कहाँ उड़ गयी थी?

समय के पख लगाकर दिन उड़ते गये।

रामदयाल अब घर में बहुत कम आता था। उर्मिला की सेवा के लिए दो दासियों में एक और की वृद्धि हो गयी थी। वह उनसे तंग आ गयी थी। वह सेवा की भूखी न थी, मुहब्बत की भूखी थी और मुहब्बत के फूल से उसकी जीवन बाटिका सर्वथा शून्य थी। बरसात के बादल आकाश पर घिरे हुए थे। ठंडी हवा साकी की चाल चल रही थी। बाहर किसी जगह पपीहा रह रह कूक उठता था। वायु का एक झोंका अन्दर आया। उर्मिला के हृदय में उल्लास के बदले अवसाद की एक लहर दौड़ गयी। हृदय की गहराइयों से एक लम्बी साँस निकल गयी। उसने सितार उठाया और विरह का एक गीत गाने लगी। उसकी आवाज़ में दर्द था, ग़म था, और जलन थी। वायुमडल उसके गीत से झंकृत होकर रह गया। अपने गीत की तन्मयता में वह बाह्य संसार को भूल गयी। रात की नीरवता में उसका गीत वायु के कण-कण में बस गया।

सहसा सामने के भवन से, जैसे किसी ने सितार की आवाज़ के उत्तर मे गाना आरम्भ किया—

'पिया बिन चैन कहाँ मन को'

राग क्या था, किसी ने उर्मिला का दिल चीरकर सामने रख दिया था। वह अपना गाना भूल गयी और तन्मय होकर सुनने लगी। क्या आवाज़ थी, कैसा जादू था? रूह खिंची चली जाती थी। एक महीने से

वहाँ कोई सितार बजाया करता था, किन्तु उर्मिला ने कभी उस ओर ध्यान न दिया था। आज न-जाने क्यों, उसका हृदय अनायास ही गीत की ओर आकर्षित हुआ जा रहा था। इच्छा हुई खिड़की में जाकर बैठ जाय, परन्तु फिर झिझक गयी, उसी तरह जैसे नया चोर चोरी करने से पहले हिचकिचाता है।

वह खिड़की से झाँकने के लिए उठी। उसे अपने पति का ध्यान हो आया, वह फिर बैठ गयी। उसने सितार को उठाया, फिर रख दिया कि गानेवाला यह न समझ ले कि उसके गीत का उत्तर दिया जा रहा है। उठकर उसने एक पुस्तक ले ली और पढ़ना आरम्भ कर दिया, परन्तु पढ़ने मे उसका जी न लगा। उसे हर पंक्ति में यही अक्षर लिखे हुए दिखाई दिये—

'पिया बिन चैन कहाँ मन को'

उठकर उसने पुस्तक को फेंक दिया और आराम कुर्सी पर लेट गयी। गाने वाला अब भी गा रहा था और गीत उसकी नस-नस में बसा जा रहा था। विवश होकर वह उठी। उसने सितार को उठाया, तारों में झनकार पैदा हुई, पर्दों पर अँगुलियाँ थिरकने लगीं और वह धीरे-धीरे गाने लगी। शनैःशनैः उसका स्वर ऊँचा होता गया, यहाँ तक कि वह बेसुध होकर पूरी आवाज़ से गा उठी।

'पिया बिन चैन कहाँ मन को'

गीत समाप्त हो गया, वायु-मंडल के कण कण पर छाया हुआ जादू टूट गया। वह जल्दी से उठकर खिड़की में चली गयी। उसने देखा, युवक सितार पर हाथ रक्खे उसका गाना सुन रहा है।

उसके शरीर में सनसनी दौड़ गयी—विजय की सनसनी! उस समय वह रामदयाल, उसकी मुहब्बत, उसकी जुदाई, सब कुछ भूल गयी। उसके हृदय में, उसके मस्तिष्क में केवल एक ही विचार बस गया—उसने दूसरे रागी को मात कर दिया है!

इसके बाद प्रतिदिन दोनों ओर से गीत उठते और वायु-मंडल मे

बिखर जाते। दो दुखी आत्माएँ संगीत द्वारा एक दूसरे से सहानुभूति प्रकट करतीं, दिल के दर्द गीतों के जबान से एक दूसरे को सुनाये जाते।

एक महीना और बीत गया। कम्पनी एक नयी फ़िल्म तैयार कर रही थी और इन दिनों रामदयाल को रात में भी वहीं काम करना पड़ता था। कई रातें वह कम्पनी के स्टूडियो में ही बिता देता। इतने दिनों में वह केवल एक बार घर आया था। उर्मिला का दिल धड़क उठा था। पहली धड़कन और इस धड़कन में कितना अन्तर था। पहले वह इस डर से काँप उठती थी कि रामदयाल कहीं उससे रुष्ट न हो जाये, अब वह इस भय से मरी जाती थी कि कहीं वह उसके दिल की बात न जान ले कहीं वह रातभर रहकर उनके प्रेम-संगीत में बाधा न डाल दे।

अक्तूबर का अन्तिम सप्ताह था। रामदयाल घर आया। उर्मिला उसके मुख की ओर देख भी न सकी, उसके सामने भी न हो सकी। रामदयाल ने उसे बुलाया भी नहीं। वह दासी से केवल इतना कहकर चला गया—"मैं अभी और एक महीने तक घर न आ सकूँगा। चित्रपट के कुछ दृश्य ख़राब हो गये हैं, उन्हें फिर दुबारा लिया जायगा।" जब वह चला गया तो उर्मिला ने सुख की एक साँस ली, उसके हृदय से एक बोझ-सा उतर गया। वह कोई ऐसा हमदर्द चाहती थी, जिसके सामने वह अपना प्रेम भरा दिल खोल कर रख दे। रामदयाल वह नहीं था, उस तक उसकी पहुँच न थी। पानी ऊँचाई की ओर नहीं जाता, निचाई की ओर ही बहता है। रामदयाल ऊँची जगह खड़ा था और गाने वाला नीची जगह। उर्मिला का हृदय अनायास उसकी ओर बह चला।

उस दिन उर्मिला ने एक मीठा गीत गाया, जिसमें उदासीनता के स्थान पर उल्लास हिलोरें ले रहा था। अब वह कमरे में बैठकर गाने के बदले बाहर बरामदे में बैठकर गाया करती थी। दोनों की तानें एक दूसरे की तानों में मिल कर रह जातीं। उनके हृदय कब के मिल

चुके थे।

संध्या का समय था। उर्मिला वाटिका में घूम रही थी। उसकी आँखें रह रह कर सामने वाले भवन की ओर उठ जाती थीं। उस समय वह चाहती थी, कहीं वह युवक उसकी वाटिका में आ जाय और वह, उसके सामने दिल के समस्त उद्गार खोल कर रख दे।

वह अकेला ही था, यह उसे ज्ञात हो चुका था, किन्तु कभी उसने दिन के समय उसे वहाँ नहीं देखा था। अँधेरा बढ़ चला था और डूबते हुए सूरज की लाली धीरे-धीरे उसमें विलीन हो रही थी। ठंढी बयार चल रही थी; प्रकृति झूम रही थी और उर्मिला के दिल को कुछ हुआ जाता था, कुछ गुदगुदी-सी उठ रही थी। वह एक बेंच पर बैठ गयी और गुनगुनाने लगी—

'कब दरस दिखाओगे'

धीरे-धीरे यह गुनगुनाहट गीत बन गयी और वह पूरी आवाज़ से गाने लगी। अपने गीत की धुन में मस्त वह गाती गयी। वाटिका की फ़सील के दूसरी ओर से किसी ने धीरे से उसके कंधे को छुआ। उसके स्वर में कम्पन पैदा हो गया और वह सिहर उठी।

"आप तो खूब गाती हैं!"

बैठे-बैठे उर्मिला ने देखा वह एक सुन्दर बलिष्ठ युवक था। छोटी-छोटी मूछें ऊपर को उठी हुई थीं। बाल लम्बे थे और बंगाली फैशन से कटे हुए थे। गले में सिल्क का एक कुर्ता था और कमर में धोती।

उर्मिला ने कनखियों से युवक को देखा। दिल ने कहा, भाग चल, पर पाँव वहीं जम गये। पंछी जाल के पास था, दाना सामने था, अब फँसा कि अब फँसा।

"आप के गले में जादू है!"

उर्मिला ने युवक की ओर देखा और मुस्कराई। वह भी मुस्करा दिया। बोली, "यह तो आपकी कृपा है, नहीं मैं तो आपके चरणों में बैठकर मुद्दत तक सीख सकती हूँ!"

वह हँसा।

" आप अकेले रहते हैं ? "

" हाँ "

" और आपकी पत्नी ? "

वह एक फीकी हँसी हँसा..." मेरी पत्नी, मेरी पत्नी कहाँ है ? इस संसार में मैं सर्वथा एकाकी हूँ। मुहब्बत से ठुकराया हुआ, यहाँ आ गया हूँ, कोई मुझे पूछने वाला नहीं, कोई मुझसे बात करने वाला नहीं। "

युवक के स्वर में कम्पन था। उर्मिला ने देखा, उसका मुख पीला पड़ गया है और अवसाद तथा निराशा की एक हल्की-सी रेखा वहाँ साफ़ दिखाई देती है। उसके हृदय में सहानुभूति का समुद्र उमड़ पड़ा और उसकी आँखें डबडबा आयीं।

वह दीवार फाँदकर बेंच पर आ बैठा। उर्मिला अभी तक बैठी ही थी, उठी न थी। वह तनिक खिसक गयी, किन्तु उठने का साहस अब उसमें नहीं था।

युवक ने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। उर्मिला के शरीर में सनसनी दौड़ गयी। उसने हाथ छुड़ाना चाहा। युवक की आँखें सजल हो गयीं। उसका हाथ वहीं का वहीं रह गया। वह फिर बोला—

" मेरा विचार था, मैं यहाँ आकर, एकान्त में गाकर अपना दिल बहला लिया करूँगा। मेरे पास धन और वैभव का अभाव नहीं, परन्तु उससे मुझे चैन नहीं मिलता, हृदय को शान्ति प्राप्त नहीं होती। इसीलिए मैं सितार बजाता था। उसकी मन-मोहक झनकार मेरे चंचल मन को एकाग्र कर देती थी, उसमें मुझे अपार शान्ति मिलती थी, परन्तु अब तो सितार भी बेबस हो गया है, वह भी मुझे शांत नहीं कर सकता, मेरी शान्ति का आधार अब मेरे सितार बजाने पर नहीं रहा।

उर्मिला सब कुछ समझ रही थी। उसने फिर हाथ छुड़ाने का प्रयास किया। युवक ने उसे नहीं छोड़ा और विद्युत् वेग से उसे अपने प्यासे ओठों से लगा लिया। उर्मिला के समस्त शरीर में आग-सी दौड़ गयी। उसने साथ छुड़ा लिया और भाग गयी।

" फिर कब दर्शन होंगे ? "

उर्मिला ने कुछ उत्तर नहीं दिया। वह अपने कमरे में आ गयी और पलँग पर लेटकर रोने लगी। पक्षी जाल में फँस चुका था और अब मुक्त होने के लिए छटपटा रहा था।

कितनी देर तक वह लेटे-लेटे रोती रही। उसे रह-रहकर अपने पति की निष्ठुरता का ध्यान आता था। आत्मग्लानि से उसका हृदय जला जा रहा था। वह इस मार्ग को छोड़ देना चाहती थी। पश्चात्ताप की आग उसे जलाये डालती थी। वह चाहती थी, उसका पति आ जाये, उसके पास बैठे, उस से प्रेम करे और वह उस के चरणों में बैठ कर इतना रोये, इतना रोये कि उसका पाषाण-हृदय पानी-पानी हो जाये।

उठकर वह रामदयाल के पुस्तकालय में गयी। एक छोटी-सी मेज़ पर एक कोने में उसके पति का एक फ़ोटो चौखटे में जड़ा रक्खा था। उसने उसे उठाया, कई बार चूमा और उसकी आँखों से आँसू बह निकले।

रामदयाल के पैरों की चाप से उसके विचारों का क्रम टूट गया। वह उठी और सच्चे हृदय से उसका स्वागत करने को तयार हो गयी। उस समय उसका मन साफ़ था। विशुद्ध-प्रेम का एक सागर वहाँ उमड़ा आ रहा था, जिसके पानी को पश्चाताप की आग ने स्वच्छ और निर्मल कर दिया था।

वह रसोईघर से पानी ले आयी और रामदयाल के सामने जा खड़ी

हुई। उसकी आँखें सजल थीं और मन आशा के तार से बँधा डोल रहा था। उसने देखा, रामदयाल ने उसके हाथ से गिलास लेकर मुँह धो लिया और फिर उसे कुछ नाश्ता लाने को कहा और जब वह मिठाई ले आयी तो रामदयाल ने तश्तरी लेने के बदले उसे अपनी भुजाओं में लेकर उसके मुँह में मिठाई का एक टुकड़ा रख दिया। निमिष भर के लिए उसके मुख पर स्वर्गीय-आनन्द की ज्योति चमक उठी। उसने सिर उठाया, देखा--रामदयाल उसी तरह बैठा है और वह उसी तरह गिलास लिये खड़ी है। आशा का तार टूट गया, मादक कल्पना हवा हो गयी। सत्य सामने था--कितना कटु, कितना भयानक?

रामदयाल ने इशारे से उसे चले जाने को कहा। वह चुपचाप पुतली की भाँति चली आयी। मानो वह सजीव नारी न होकर अपने आविष्कारक के संकेत पर चलने वाली एक निर्जीव मूर्ति हो। अपने कमरे में आकर उसने पानी का गिलास अँगीठी पर रख दिया और धरती पर लोट कर रोने लगी। धरती में, मूक और ठंडी धरती में उसे कुछ आत्मीयता का आभास हुआ, एक बहनापा-सा महसूस हुआ और वह उसके अंक में लिपट कर रोयी। खूब रोयी। ऐसे मानो एक दुखी बहन अपनी सुखी बहन के गले लिपट कर आँसू बहा रही हो।

कई दिन तक वह अपने कमरे के बाहर न निकली। रामदयाल दासी से कह गया था, "मैं और पन्द्रह दिन घर न आ सकूंगा, इस-लिए तुम सावधानी से रहना।" उर्मिला को अपने पति की निर्दयता पर रोना आता था। वह पाप की नदी मे बहे जा रही थी और उसका पति उसे बचाने को हाथ तक न हिलाता था। भ्रांति की विकराल लहरें लपलपाती हुई उसकी ओर बढ़ी आ रही थीं और उसका पति निश्चेष्ट और निष्क्रिय एक ओर खड़ा तमाशा देख रहा था।

साथ के भवन से बराबर गीत उठते थे। उनमें उल्लास की तानें न होती थीं, दुःख और वेदना का बाहुल्य रहता था। उर्मिला की

संगीत-प्रिय आत्मा तड़प उठती थी, परन्तु वह अपने कमरे के बाहर न निकलती थी।

शाम का वक्त था। गाने वाला प्रलय के गीत गा रहा था। उसका एक-एक स्वर उर्मिला के हृदय में चुभा जा रहा था। वह उठी, ड्राइंग रूम में आ गयी। उसका सितार असहाय भिखारी की भाँति एक ओर पड़ा था। उस पर मिट्टी की एक हल्की-सी तह जम गयी थी। उसने उसे कपड़े से साफ़ किया और आवेश में आकर चूम लिया। उसकी आँखों में आँसू छलक आये। गाने वाला गा रहा था।

'क्यों रूठ गये हम से'

उर्मिला ने एक दीर्घ-निःश्वास छोड़ा और उसकी कम्पित अँगुलियाँ सितार के पर्दों पर थिरकने लगीं। बेख्याली में यही गीत उसके सितार से निकलने लगा—

'क्यों रूठ गये हमसे'

वह गाता हुआ अपने भवन से उतरा और फसील को फाँदकर उर्मिला के पास आ बैठा। वह सितार बजाती रही और वह गाता रहा।

दोनों अपनी कला के शिखर पर जा पहुँचे। उसने शायद इससे पहले इतना अच्छा न गाया हो और उसने शायद इससे पहले इतना अच्छा सितार न बजाया हो। गीत की लय और सितार की झनकार दोनों एक होकर मानो रूठे हुए दिलों को प्रेम का मार्ग बता रही थीं।

गीत समाप्त हो गया। उर्मिला युवक की भुजाओं में थी। अपने विशाल वक्षःस्थल से भींचते हुए युवक ने उसे चूम लिया। उर्मिला चौंकी, युवक पीछे हटा। वह उठकर भागने को हुई। युवक ने उसे बैठा लिया और अपनी लम्बी मूछें उतार दीं और सिर के लम्बे-लम्बे बाल दूर कर दिये।

गोधूलि का समय था। सन्ध्या के क्षीण प्रकाश में उर्मिला ने देखा—वह अपने पति के सामने बैठी है। वह हँस रहा था, परन्तु उर्मिला के मुख पर मौत की नीरव स्याही पुत गयी।

"देखा हमारा बहुरूप उम्मी" ! रामदयाल ने विजय की खुशी में उसे अपनी ओर खींचते हुए कहा। कौन जानता है कि वह "नवयुग" में छपे लेख की परीक्षा न कर रहा था !

"अभी आयी !" और उर्मिला ऊपर अपने कमरे को भाग गयी।

कुछ समय बीत गया। रामदयाल अपने विचारों में निमग्न रहा। उसके विचारों का क्रम उर्मिला के कमरे से आने वाली एक चीख़ से टूट गया। वह भागकर ऊपर पहुँचा। देखा उर्मिला के कपड़ों को आग लगी हुई है और वह शान्त भाव से जल रही है।

रामदयाल काँप उठा। उसने उसे बचाने का भरसक प्रयत्न किया, पर वह सफल न हुआ।

श्मशान में उर्मिला का शव जल रहा था और मूर्तिवत् बैठा रामदयाल अपनी मूर्खता और नारी-हृदय की इस पहेली को समझने का प्रयास कर रहा था।

नरक का चुनाव

बस्ती ग़ज़ा,

जालन्धर।

सुमित्रा,

तुम्हारा ख़त मिला, बधाई का संदेश भी मिला। आग ही तो लग गयी। तुम्हें जलों को जलाने में मज़ा आता है। कोई रोता हो तुम हँस दोगी। किसी की कल्पनाओं का भव्य-प्रासाद धू धू करके जल रहा हो, तुम तमाशा देखोगी। जानें तुम्हें, किसी के दुख-दर्द को महसूस करना कब आयगा? तुमने लिखा—'सगाई पर बधाई हो'। स्मरण होगा, जब यही शब्द मैंने तुम्हारी सगाई पर कहे थे तो किस तरह पुस्तक खींच कर मेरे मुँह पर दे मारी थी। मन में तो लड्डू फूट रहे थे और मुझ पर झुँझला रही थीं। मैं तुम्हें चिढ़ाती न थी, सच्चे दिल से बधाई देती थी, पर तुम मुझे चिढ़ाती हो। मेरे दुर्भाग्य पर हँसती हो। किसी की आशाओं का सुनहरा संसार उजड़ जाये और तुम उसे बधाई दो। तुम से कोई और क्या आशा रख सकता है?

गुस्से की बात नहीं सुमित्रा, मैं भरी बैठी हूँ, तुमने ललता के लिखने पर मुझे बधाई दी, उसमें तुम्हारा दोष नहीं, मेरे माता-पिता का दोष है। भला यह भी क्या मज़ाक है कि जगह जगह सगाई करके तोड़ दी जाये और दूसरों को मेरा उपहास करने का अवसर दिया जाये। कई बार मेरी बात लगी और टूटी। कोई लड़की आयु-पर्य्यन्त कुँवारी रह सकती है या नहीं, यह मैं नहीं जानती, पर यदि उसे ज्ञात हो कि सारी आयु उसे कुँवारपने में ही बितानी है तो वह सतोष से बैठ जाये! किन्तु यों बार बार सगाई करके, उसकी कल्पनाओं की दुनिया बसा-बसा कर उजाड़ देना, कितना बड़ा अन्याय है? तुम्हीं बताओ!

ललता ने तुम्हें वैसे ही लिख दिया। मुझसे उसे न जाने किस जन्म का बैर है? मुझे जलाने में उसे आनन्द आता है। उसकी सगाई नगर के एक नये डॉक्टर से क्या हो गयी बस, किसी को अपने सामने कुछ समझती ही नहीं। मेरे सम्बन्ध में झूठी बातें उड़ाती रहती है। मेरी निन्दा के नित नये ढंग ढूंढती है, कहीं अगर उसकी सगाई टूट जाये, लड़के वाले इन्कार कर दें, तो फिर पूछूँ? पर सब मुझ जैसी मन्द-भाग्य नहीं सुमित्रा! विधता ने मेरे भाल पर तो इसी तरह घुल-घुल कर खत्म होना लिख दिया है। मुझसे तीन-तीन वर्ष छोटी लड़कियाँ व्याही जा चुकी हैं। दो-दो बच्चों की मायें हैं। सब अपने घरों में सुखी हैं। एक मैं ही अभागिनी उभरी हुई उमंगों को दबाने, हँसने के बदले रोने, मुस्कराने की जगह आँसू बहाने, उजले कपड़ों के स्थान पर मैले वस्त्र पहनने, आंखों को काजल से, मस्तक को बिन्दी से और ओठों को सुर्खी से वंचित रखने के लिए पैदा हुई हूँ। जब कभी शान्ता अपना बच्चा लेकर आती है तो मेरा दिल उसे गोद में बैठने, उसे खेलाने, उसे हाथों में उछालने के लिए आकुल हो उठता है। परन्तु पहले तो वह कई कई महीने बाद बस्ती आती है और जब आती है तो एक दो क्षण ठहरकर चली जाती है। तुम यहाँ आतीं, मेरे दुख दर्द की कहानी सुनतीं, मुझे सतोष की राह बतातीं, पर तुम

लाहौर की दुनिया में भूल कर रह गयी हो। तुम्हें 'बस्ती' में बसने वाली एक दुखिया सहेली की याद क्यों आने लगी?

मैं इस पुराने, तंग, सीलदार कमरे में बन्द कर दी गयी हूँ; बाहर निकलने की आज्ञा नहीं। सुमित्रा, वे दिन याद आते हैं, जब इकट्ठी पढ़ने जाया करती थीं, बस्ती के बाहर खेतों में बेर तोड़ तोड़ कर खाया करती थीं, गलियों में भागी फिरती थीं,पर अब 'चिड़ियों का चम्बा'* उड़ गया है और केवल मैं इस पिंजरे में बन्द कर दी गयी हूँ। तुम तो अपना दिन नयी-नयी पुस्तकें पढ़कर काट सकती हो, पर मैं क्या करूँ? कोई किताब माँ के हाथों नहीं बची। एक दो छिपा कर रख छोड़ी थीं, सो बार बार पढ़ने से वे भी कंठस्थ हो गयी हैं, अब क्या करूं?

तुम कहोगी, चर्खा कातो, सियो, पिरोओ! लेकिन अब मुझ से यह नहीं होता। पन्द्रह वर्ष कातते-कातते जी उकता गया है। चर्खा देखते ही ज़हर चढ़ जाता है। सीने-पिरोने से जी घबराता है। लोग कहते हैं, गर्मियों के दिन बड़े होते हैं, पर मुझे तो सर्दियों के दिन पहाड़ मालूम होते हैं। कहो किस तरह उन्हें काटूँ?

तुम्हारी,
लक्ष्मी।

बस्ती ग़ज़ा,
जालन्धर।

सुमित्रा प्यारी,

तुम लिखती हो—'यह पाप है'; शायद हो। इस वक्त मुझ में पाप और पुण्य में तमीज़ करने की संज्ञा नहीं रही। हृदय में एक अग्नि प्रज्वलित है और रोम-रोम उस धधकती आग में जला जाता है। फिर मेरी चेतना, समझ-सोच की मेरी शक्तियाँ, कैसे स्थिर रह सकती हैं? मैं

*साड्डा चिड़िया दा चम्बा जी, बाबल असां उड़ जाना—एक लोक-गीत।

नहीं जानती पाप और पुण्य क्या है, पर जिसे तुम पुण्य कहती हो, उसका कहीं निशान भी नहीं। क्या धर्म इस बात का आज्ञा देता है कि बाईस-बाईस वर्ष की नौजवान कुँवारी लड़कियों को घर में बैठा रख जाय, और बीस जगह उनकी बात पक्की करके तोड़ दी जाये, या उन्हें चाँदी के चन्द टुकड़ों के बदले बेच दिया जाय? यह विवाद रस-हीन और निरर्थक है, मैं इसमें नहीं पड़ना चाहती। मैं तो तुम्हें यह बताना चाहती हूँ कि जो कुछ मैं कर रही हूँ अपनी इच्छा से नहीं कर रही। मैं तो ऐसा न करने के लिए बहुतेरे हाथ-पाँव मारती हूँ, पर कोई है जो मुझे उधर बहाये लिये जाता है और मेरे यत्न डूबते हुए व्यक्ति की विवशता से अधिक महत्व नहीं रखते।

यह पाप तो है सुमित्रा, पर ऐसा पाप, जिस पर सहस्रों पुण्य निछावर किये जा सकते हैं। तुम्हारा विश्वास है, इसमें अपमान, निन्दा, बदनामी के सिवा कुछ हाथ न आयेगा। मैं कहती हूँ, इनको दूर रख कर ही मुझे क्या मिला? तुम्हारे समीप मैं दोषी सही, पर अपने समीप नहीं। मैं अपनी कोठरी से बाहर नहीं निकली, किसी को लुभाने परचाने नहीं गयी। मुहब्बत स्वयं मेरे पास चली आयी है और अब अनजाने ही सही, पर यह प्याला प्राप्त कर लेने के बाद मैं इसे खोना नहीं चाहती। मैं इसे अपने प्यासे ओठों से लगा लूंगी—चाहे फिर यह मेरे लिए कालकूट सिद्ध हो, अथवा जीवनदायक अमृत!

ललता ने तुम्हें जो कुछ लिखा वह सदेह-मात्र पर निर्भर है। उस कम्बख्त को मुझे बदनाम करने में आनन्द आता है। असली बात का उसे बिलकुल पता नहीं, पर मैं तुम्हें सब कुछ ठीक-ठीक बताती हूँ, तुम से क्या पर्दा?

बात यह है कि दिन रात के इस 'एकान्त कारावास' से मैं बीमार पड़ गयी। चेहरे का रंग उड़ गया और यह अँधेरी कोठरी, जहाँ मैंने बेचैनी के इतने वर्ष काटे थे, मेरी मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगी। वह मौत भी कैसी दुखदाई होती सुमित्रा, अरमान, इच्छाएँ, आकांक्षाएँ,

सब कुछ लिए हुए मर जाना, रोशनी के लिए तरस-तरस कर जर्जर, अँधेरी, सील भरी कोठरी में ख़त्म हो जाना! पर भाग्य को मेरा इस प्रकार मरना स्वीकार न था। एक दिन किशोरी लाल के साथ उसके मित्र डॉ० हीरा लाल आये। अभी अभी उन्होंने नगर में प्रैक्टिस शुरू की है। वे एक सम्पन्न घराने के रत्न हैं। पिता जी तो शायद मरते दम तक भी मुझे डॉक्टर के यहाँ न ले जाते, पर घर में आये हुए व्यक्ति से लाभ न उठाना उनके धर्म में मूर्खता है और इसीलिए बातों-बातों में मेरी बीमारी का ज़िक्र छिड़ गया और निरीक्षण के निमित्त उन्हें मेरे कमरे में लाया गया। पहली बार उनकी ओर मैं देख भी न सकी, मेरी आँखें उठते ही झुक गयीं, दिल धड़कने लगा। कुछ देर बाद मैंने फिर अधखुली-सी आँखों से उनकी ओर देखा, और फिर जब तक वे मेरा निरीक्षण करते रहे मेरी दृष्टि रह-रह कर उन पर पड़ती रही।

इसके बाद प्रतिदिन वे आते और प्रतिदिन उनके दर्शनों से अपने दिल की प्यास बुझाती। उन्होंने जिस परिश्रम, जिस निष्ठा से मेरा इलाज किया, मैं ही जानती हूँ। मैं मौत की गहरी, अँधेरी खोह में खिंची चली जाती थी, उन्होंने मुझे बचा लिया, अँधेरे से मुझे रोशनी में खींच लाये, इस पर यदि मैं उन्हें प्यार कर रही हूँ तो क्या गुनाह है? और उस सूरत में, जब वे भी मुझ से उपेक्षा नहीं करते?

तुम्हारी,
लक्ष्मी।

बस्ती ग़ज़ा,
जालन्धर।

सुमित्रा बहिन,

अब मैं चंगी भली हो गयी हूँ। हीरा लाल की दवाओं ने मृतप्राय

शरीर में जान डाल दी है, ज़र्द रगों में खून भर दिया है। अब मैं मैले कपड़े नहीं पहने रहती, काजल भी लगाती हूँ, बाल भी सँवारती हूँ, शीशा भी देखती हूँ। मैले कपड़े स्वास्थ्य के लिए कितने हानिकर हैं, यह बात हीरा लाल ने मेरे माता-पिता को समझा दी है और अब अधिक मूल्य पाने के विचार से गाय को अच्छा चारा मिल रहा है। फिर जब अच्छे कपड़ों की छुट्टी हो गयी तो समझो सब बातों की छुट्टी हो गयी। कपड़े भी तभी अच्छे लगते हैं जब बाल बने हों, चेहरा निखरा हो, हाथ पाँव साफ हों, मिट्टी की मूर्ति का बनाव-शृङ्गार करके कोई क्या करेगा ?

सुमित्रा, अब मेरे चेहरे की जर्दी के स्थान पर सुर्खी आ गयी है। शीशा देखती हूँ तो कहती हूँ—हीरा लाल की औषधियाँ अमृत से कम नहीं, पर यदि सच पूछो तो दवाइयाँ तो क्या, हीरा लाल ही जादूगर हैं। जब उन्हें देखती हूँ, उनकी मीठी-मीठी बातें सुनती हूँ तो जी जाती हूँ, जीवन से प्यार सा हो जाता और जीने को जी चाहता है। कोठरी पहले भी यही था, अब भी यही है, पर अब मैं उदास और बीमार नहीं। जैसे मेरी आत्मा, मेरी रूह मुझे वापस मिल गयी है! जो भी कोई मुझे देखती है, हैरान रह जाती है। कहती है, इसे बीमारी ने अच्छा कर दिया है। ललता तो मुझे देख कर अब जल सी जाती है। उसे अब मैं जहर लगती हूँ। शायद मेरे सामने उसका रंग फीका पड़ गया है। पर सुमित्रा इस उल्लास में दुःख का एक काँटा भी है। अब तक तो हीरा लाल मेरी बीमारी के बहाने दोनों वक्त मुझे दर्शन दे जाते थे, कुछ बातें भी हो जाती थीं और यद्यपि प्यास बिलकुल तो न मिटती थी, पर कुछ तृप्ति तो हो जाती थी। पर अब तो मालूम होता है, प्यासा ही मरना पड़ेगा। सोचती हूँ, अब क्या करूँगी ? क्या फिर इसी अँधेरे कमरे में घुट-घुट कर मरना पड़ेगा ? ऐसे अच्छे होने से तो बीमार ही भली थी। मैं तो अब इसी चिन्ता से मरी जा रही हूँ, अभी हीरा लाल ने आना बन्द तो नहीं किया, पर वे रोज

ही ऐसा करने की इच्छा प्रकट करते हैं। वे मुझे सैर करने की आज्ञा दिलाने पर ज़ोर देते हैं। मैं हँस देती हूँ। यहाँ बस्ती में सैर की इजाज़त ही कहाँ मिल सकती है, और यदि मिल भी जाये तो मुझे सैर से क्या? यदि वे रोज़ आते रहें तो मुझे आयु-पर्यन्त इस अँधेरी कोठरी में रहना पसन्द है। अब मेरे अच्छे होते ही मुझे किसी को सौंप देने, मुझे बेच देने की तैयारियाँ आरम्भ हो गयी हैं। सुमित्रा, अच्छी क्या हुई, मुसीबत में फँस गयी। रोज़ बीमार पड़ने की प्रार्थना करती हूँ। तुम भी मेरी दुआ के साथ अपनी दुआ मिलादो, जिससे आने वाली विपत्तियों से सुरक्षित रहूँ और कुछ दिन, इस नयी दुनिया की सैर कर लूँ, इसके बाद यदि मौत भी आ जाये तो मैं हजार जान से उसका स्वागत करूँगी।

तुम्हारी,
लक्ष्मी।

बस्ती गुज़ा,
जालन्धर।

सुमित्रा,

अब घर से निकल भागने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं। घर से निकल भागना—अँधेरी खोह से निकल कर विस्तृत संसार में खो जाना, नाम को त्याग कर गुमनाम हो जाना, परिचितों की संकुचित-दृष्टि से निकल कर अपरिचितों की व्यापक निगाहों में समा जाना—यह सब भी कितना अच्छा है? वहाँ चले जाना जहाँ कोई हमें जानता न हो, कोई हमारा परिचित न हो, कोई हम पर अंगुली उठानेवाला न हो और जहाँ विरह की न समाप्त होने वाली लम्बी घड़ियाँ प्यार और उल्लास के पलक भपकते बीत जाने वाले क्षण बन जायें।

तुम पूछोगी, तुम्हारा दिल नहीं धड़कता? तुम्हें भय नहीं लगता?

लेकिन सुमित्रा, मुहब्बत में भय कहाँ ? और मैं तो कहूँगी, मुहब्बत में लज्जा भी कहाँ ? दिल में प्यार उपजते ही आँखों की शर्म उड़ जाती है, निगाहें निडर हो जाती हैं, मन विद्रोह कर उठता है, प्रतिदिन कितने किस्से पढ़ती हो, कितनी कहानियाँ सुनती हो, अदालतों में कितने मामले चलते हैं, इन सब में प्रेम ही तो प्रलय मचाता है। फिर विस्तृत वाटिकाओं में, भव्य प्रासादों में, गलियों के अँधेरे कोनों में, मुहब्बत ही के खेल तो खेले जाते हैं। कहीं यह अपने प्रशंसनीय रूप में है, कहीं निन्दनीय में; कहीं लज्जा के आवरण में लिपटी हुई और कहीं घूंघट उठाये—बेपर्दा!

तुम कहोगी, मैं पागल हो गयी हूँ, पतित हो गयी हूँ। मुझे अपना भला बुरा कुछ सुझाई नहीं देता। शायद ऐसा ही हो। एक ओर भलाई है और दूसरी ओर बुराई, पर इस बुराई में भलाई निहित है और उस भलाई में बुराई! इस ओर मान है जिसकी कल्पना ही दुखदाई है, दूसरी ओर अपमान है, जिसकी कल्पना ही मे संसार भर का उल्लास भरा है!

मै शर्म रक्खूंगी, क्या होगा ? किसी खूसट बुड्ढे के हवाले करके भाड़ में झोंक दी जाऊँगी। पिताजी मेरी सगाई कर आये हैं, सगाई क्या सौदा कर आये हैं। और दाम कौन देगा। जो अयोग्य हो। फिर एक अयोग्य मूर्ख की पत्नी बन कर आयु-पर्य्यन्त आँसू बहाते रहना और दूसरों से अपने शील-स्वभाव, अपनी लज्जा-शर्म की दाद लेना मुझे नहीं आता। दूसरी ओर हीरा लाल के साथ भाग जाना है। आयु भर मुहब्बत की सुखमयी गोद में बिताना करना है। इसमें निन्दा सही, लांछना और अपमान सही, पर मैं इसका स्वागत करूँगी। जब माता-पिता को अपने बच्चों के मान-अपमान, उन की इच्छा-आकांक्षा की चिन्ता न हो, तो सन्तान भी विवश है। जब वे अपने कर्तव्य का अनुभव नहीं करते तो सन्तान ही क्यों कर्तव्य के नाम की माला रटती रहे ?

हीरा लाल मुझ पर जान देते है। वे मेरे लिए बदनामी की परवाह

नहीं करते। उनकी प्रैक्टिस चल निकली है, मेरे लिए वे उस पर भी लात मारने को तैयार हैं। उनकी सगाई हो चुकी है, शादी भी होने वाली थी, पर उन्होंने मेरे लिए उस से भी इन्कार कर दिया। तो फिर मैं ही क्यों डरूँ? मैं ही क्यों कर्तव्य-कर्तव्य पुकारती फिरूँ। मैं ही क्यों बदनामी के भय से मरती रहूँ? पहले भी लोग व्यंग्य-बाण कसते हैं, अब उनमें और एक-दो की वृद्धि कर देंगे; पहले वे छिप-छिप कर हमारी बुराई करते थे, अब खुल्लमखुल्ला करेंगे; पहले हम सुनते थे तो डरते थे, अब न सुनेंगे, न डरेंगे। कहीं इस बस्ती, जालन्धर, पंजाब, से दूर निकल जायेंगे, किसी जंगल में कुटिया बना कर रहेंगे; जहाँ चारदीवारी का बन्धन न होगा, सारे जंगल में हम घूम सकेंगे; जहाँ झरोखों का धीमा प्रकाश न होगा, सारा आकाश रोशनी पहुँचायेगा; जहाँ भूले भटके आ जाने वाले हवा के झोंके न होंगे, सारी हवा हमारे लिए होगी! मैं लम्बे-लम्बे साँस लेकर स्वच्छ वायु को अपने फेफड़ों में भर लूंगी! आँखें फाड़ फाड़ कर रोशनी में देखूंगी! धूप में हरी हरी दूब पर लेट जाऊँगी!

तुम्हारी,
लक्ष्मी।

बस्ती ग़ज़ां,
जालन्धर।

प्यारी सुमित्रा,

अभी अभी हीरा लाल हो कर गये हैं, बात पक्की करने आये थे: शादी की रात को हम मकान के पिछवाड़े सीढ़ी लगा कर भाग जायेंगे। दूल्हा को भी मालूम होगा! आयु के विचार से तो घाट किनारे आ लगे हैं, और चले हैं शादी रचाने! जब अपना-सा मुँह लेकर लौटेंगे तो आनन्द आ जायेगा। मैं यहाँ हूँगी नहीं, वरना वह दृश्य देखने

को जी तो बहुत चाहता है। हम आगरे पहुँच कर 'सिविल-मैरेज ऐक्ट' के अधीन विवाह कर लेंगे। मैं बालिग हूँ। कोई रुकावट नहीं पड़ सकती। आज हीरा लाल प्रसन्न थे, हँस हँस कर बातें करते थे और मैं बेसुध-सी, मन्त्रमुग्ध-सी सुन रही थी। कितने सुन्दर हैं वे—कितने सुन्दर! यदि देख लो तो अवश्य ही मेरे भाग्य को सराहो।

एक बात और सुनो, इस ललता को न जाने मेरे साथ किस जन्म का बैर है? मेरी हर खुशी के रास्ते की बाधा बन जाती है। कल हमारे घर गाना हो रहा था। बस्ती की सब लड़कियाँ मौजूद थीं। मुझे ललता के आने की आशा नहीं थी, पर कल वह भी आयी। खूब बन ठन कर। सब पर माना छायी जाती थी, मानों मुझ पर अपना रोब जमाने आयी थी। एक गीत समाप्त हुआ तो उसने ढोलक ले ली, सब तन्मय हो कर उसका गाना सुनने लगीं। वह अत्यन्त सुन्दर है, यह बात मुझे ज्ञात थी, पर उसके गले में इतना रस है, यह मैं न जानती थी। बड़ी रात तक गाना होता रहा। सब धीरे धीरे चली गयीं, पर मैं वहीं बैठी अपने भावी-जीवन के सुन्दर-प्रासाद बनाती रही। मैंने उसकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखा। कुछ क्षण बाद मालूम हुआ कि वह नहीं गयी। मेरे समीप होकर बैठ गयी और बोली—"लक्ष्मी!"

"हाँ"

लेकिन वह कुछ न कह सकी, शब्द उसके ओठों तक आ कर रुक गये। मैंने अन्यमनस्कता से पूछा—"कहो क्या कहती हो?"

वह फिर भी न बोल सकी।

तनिक नर्म होकर मैंने पूछा—"कहो बहन, क्या कहने आयी हो?"

किसी प्रकार की भूमिका बाँधे बिना उसने कह दिया—"लक्ष्मी, मैं हीरा लाल की मँगेतर हूँ।"

"कौन हीरा लाल?" मैंने धड़कते हुए दिल के साथ पूछा।

"डॉक्टर हीरा लाल!" उसने उत्तर दिया

मेरा हृदय धक् से रह गया। क्षण भर के लिए मैंने अपनी और उसकी तुलना की। ख़्याल आया, हीरा लाल ने मेरा चुनाव करने में ग़लती की। पर दूसरे क्षण यह ख़्याल मिट गया और गर्व से मेरा सिर ऊँचा हो गया। ललता आज तक मुझे पराजित करती आयी थी, मेरी निंदा करने में उसने कोई कोर-कसर न उठा रखी थी, पर भाग्य नें सब का बदला चुका दिया। मुहब्बत की लड़ाई में मेरी ही जीत हुई।

अपने मन के भावों को मन ही में छिपा कर मैंने कहा-"फिर?"

"मैं उनसे बहुत मुहब्बत करती हूँ।"

"अपने पति से सब को मुहब्बत होनी ही चाहिए।"

वह रो पड़ी, "लक्ष्मी, जले पर नमक न छिड़को! मैं अहंकार से सिर उठाये फिरती थी, मेरा दम्भ मेरे आगे आया। देखो अब दया करो, नहीं तो मैं जीवित न रह सकूंगी।"

"मैं क्या कर सकती हूँ?" मैंने ज़रा-सा चिढ़ कर कहा।

"क्या कर सकती हो, तुम ने उनको मुझ से छीना है, तुम्हीं वापस दे सकती हो।"

मैं चुप बैठी उसके चेहरे की ओर देखती रही। वह फिर बोली- "लक्ष्मी उस दिन वे मुझे ही देखने आये थे, तुम किशोरी लाल से पूछ लो, छोटे सुन्दर ने उनकी बातें सुनी थीं, पर इससे पहले कि वे मुझे देख सकें, तुम ने उन्हें अपने जाल में जकड़ लिया और अब वे तुम्हारे संकेत पर चलते हैं।"

मैंने कहा, "यह चाँद-सी सूरत दिखा कर तुम उन्हें अपने वश में क्यों नहीं कर लेतीं? मुझ पर झूठे अभियोग क्यों लगाती हो?"

"मुझ से न छिपाओ लक्ष्मी!" वह बोली, "मुझे ज़रा ज़रा सी बात का पता है। मैं चाहती तो तुम्हारी निंदा कर सकती, पर मैं चुप रही। अब मैं तुम से प्रार्थना करती हूँ कि यदि अपना मकान सुन्दर नहीं, तो दूसरे के बसे हुए घर को न उजाड़ो। तुम्हारा मकान न बनेगा, उसका अवश्य नष्ट हो जायेगा। मुझे क्रोध हो आया। मैंने कहा—यदि तुम्हें इस

बात का विश्वास होता कि इससे मेरी निन्दा होगी, मुझे दुःख पहुँचेगा तो तुम कभी न चूकतीं, बल्कि असल बात से भी बढ़ा-चढ़ा कर गली-गली कहती घूमतीं। मैं तुम्हारी बातों की चिन्ता नहीं करती, पर तुम से भी यही कहती हूँ कि यदि अपना मकान नहीं बसता तो दूसरे के बसे हुए मकान को न उजाड़ो।"

ललता चली गयी। कल पहली बार उसने पराजय स्वीकार की। इस तरह बन ठन कर आयी थी जैसे मुझ पर जादू कर देगी, मुझे अँगुलियों पर नचायेगी। मैंने उसे बिलकुल नहीं रोका। उसके जाने के बाद मैं ख़ामोशी से अपने कमरे में चली गयी। बहुत देर तक नहीं सोयी। क्षणभर के लिए मेरा दिल असमंजस में पड़ गया। ललता को हीरा लाल से बेहद मुहब्बत है; वह उनकी मँगेतर भी है; फिर हीरा लाल पर उसका मुझ से ज्याद हक़ है; वह सुन्दर है, सुशिक्षित है और गले में उसके रस है; हीरा लाल के लिए वह जीवित है, उनके बिना मर जायेगी! किन्तु दूसरे क्षण यह सब विचार हवा हो गये। मुहब्बत में मरने वालों की सूरत ऐसी ही होती होगी? आयी तो प्रार्थना करने, पर रानी बनकर। किसी के दरवाजे पर भिखारी बन कर जाया जाता है, राजा बन कर नहीं। फिर संसार के संघर्ष में सब कोई अपने प्रतिद्वन्द्वी पर विजय पाने का प्रयास करता है। यदि ललता मेरी स्थिति में होती, तो वह भी क्या ऐसा न करती। फिर मैं उसका अधिकार छीनने वाली कैसे हो गयी? मैं हीरा लाल को बुलाने नहीं गयी, वह स्वयं मेरे घर आ गये, और घर आयी दौलत को कौन ठुकराता है?......यह सब बातें सच हैं सुमित्रा, पर इस समय मेरा मन डावाँडोल हो रहा है। एक चिन्ता भी है। अब तक तो हीरा लाल ने उसे नहीं देखा। यदि देख लिया तो कहीं की न रहूँगी। बनी बात बिगड़ जायेगी। कभी ख्याल आता है कि नाव को लहरों के सहारे छोड़ दूँ, चाहे किनारे लग जाये, चाहे डूब जाय। फिर ख्याल आता है, नहीं इस तरह दूसरे की नाव भी डूब जायेगी। मैं भी तबाह हूँगी, वह भी। लिखो, दोनों डूबें या एक?

वापसी डाक से उत्तर दो।

तुम्हारी,
लक्ष्मी।

बस्ती ग़ज़ा,
जालन्धर।

सुमित्रा,

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने जो परामर्श दिया, व्यर्थ है। मुझे नौका को बहाव में छोड़ने का साहस नहीं हुआ। अपनी खुशी पर मैं दूसरे की प्रसन्नता निछावर नहीं सकी। मेरी शादी का दिन आया सुमित्रा, और फिर हमारे छोटे से घर में छायी रहने वाली निस्तब्धता जैसे कुछ दिनों के लिए भंग हो गयी। चिर-निद्रित चहल-पहल जैसे जाग उठी। मुझे भी उस अँधेरी कोठरी से निकाल कर ऊपर के कमरे में पहुँचाया गया। मैं गहनों कपड़ों में लदी हुई वहाँ बैठी रहती। भागने के सब आयोजन पूरा हो चुके थे। रात के १२ बजे का लग्न था, दस बजे रात को बारात आनी थी। और हम ने इसी हड़बोंग में भाग जाने की सलाह कर रखी थी। रात के ६ बजे स्त्रियाँ और सहेलियाँ बरात को देखने के लिए नीचे आँगनमें चली गयीं। मैंने जल्दी-जल्दी आभूषण उतार कर डिब्बे में बन्द किये और एक सीधी सी धोती पहन ली कि मुझे कोई पहचान न सके। तीन दिन से मेरे दिल में जो धुकड़-पुकड़ हो रही थी, आज मैंने उसे ख़तम करने का फ़ैसला कर लिया था। ललता मरे या जिये, मैं अपने सुख को उस पर क्यों बलिदान करूँ? हीरा लाल मुझ से प्रेम करते हैं, मुझे छोड़ न सकेंगे। मैंने जेब में अफ़ीम की डिबिया रख ली। यदि ललता ने शोर मचाया, या मैं अपने उद्देश्य में सफल न हो सकी तो यह मुझे रोज-रोज के ग़म से मुक्ति दिला देगी। दस बजे, जब बस्ती में बारात के आगमन का शोर था—मेरी और कौशल्या की बारातें एक

साथ आ रही थीं। हीरा लाल ने पिछवाड़े की ओर से सीढ़ी लगाई। मैं अपने कमरे से निकली, सीढ़ी पर मैंने पाँव रखा। मैं निडर थी, उसी प्रकार जैसे काले पानी का बन्दी स्वतन्त्रता की बाजी लगाते समय भय त्याग देता है। मैं प्रसन्न थी। एक तीर से दो शिकार कर रही थी, एक तो स्वतंत्र हो रही थी दूसरे ललता से अपने अपमान का बदला ले रही थी। मैंने उस मकान पर अन्तिम दृष्टि डाली, जहाँ खेल कूद कर बड़ी हुई थी; उस कोठरी को भी देखा जो मेरे कारावास का काम देती थी; आँगन, बरामदा और डेवढ़ी! और सब ओर नज़र दौड़ाई। उस कमरे को भी देखा, जहाँ से मैं अभी निकली थी। निमिष-मात्र के लिए मेरा दिल धक्-धक् करने लगा। बाहर कोने की मद्धिम रोशनी में दो आँखें मेरी ओर टकटकी बाँधे हुए देख रही थीं। मैंने दूसरा पाँव सीढ़ी पर रखा। पर वे आँखें—समस्त संदेह, सारे विचार, सभी द्वन्द फिर जाग पड़े। मेरी निगाहें फिर उन निगाहों से चार हुईं। उन आँखों में करुणा थी, वही करुणा जो अपने सामने अपने भव्य-प्रासाद को जलता देखने वाले मालिक-मकान की आँखों में होती है। वह ललता थी! मैं वापस चली आयी। हाय, मैं इस ललता से बदला लेने चली थी। उस दिन की ललता और आज की ललता में कितना अन्तर था? एक अहंकार की पुतली थी, दूसरी विनय की तस्वीर; एक आकाश की बुलंदियों पर उड़ती थी, दूसरी धूल में गिरी पड़ी थी। एक ललता थी, दूसरी उसकी छाया! इन तीन दिनों में न जाने उसमें इतना अन्तर कैसे आ गया था? जाने कितना ग़म उसने खाया? शायद उसने तीन दिन से उपवास रखा था, मुख की दीप्ति ही जाती रही थी, वर्षों की बीमार मालूम होती थी, बाल बिखरे हुए थे, मुख पीला पड़ गया था, आँखें करुण थीं। तो मैं इस ललता से बदला लूँ? मेरे दिल से सुमित्रा, स्वार्थ, प्रतिशोध, मुहब्बत और सुख भरे जीवन के सब विचार उड़ गये और उन सब की जगह केवल ललता के जीवन की रक्षा का ख्याल ज़ोर पकड़ गया। अपनी जिन्दगी बचाने की अपेक्षा दूसरे का जीवन बचाना भी कितना अच्छा है! हीरा लाल मुझे ले

जाने के लिए छत पर आ गये, पर ललता को देखते ही उल्टे पाँव उतर गये। ललता की आँखें सजल हो गयीं। उसने रोते हुए कहा—"लक्ष्मी, यदि मेरे भाग्य में सुख नहीं तो तुम मेरे लिए दुःख में क्यों पड़ती हो?"

इन शब्दों में कितनी विनय थी, कितना निवेदन था। मेरी आँखों में अब भी उसकी वह करुण-आकृति घूम रही है, उसके वे विनीत शब्द मेरे कानों में गूज रहे हैं। यदि यही शब्द वह पहले कह देती तो मैं उस पर हीरा लाल तो क्या, स्वयं अपने आपको निछावर कर देती।

मैंने जल्दी-जल्दी फिर विवाह के कपड़े और आभूषण पहने। मोतियों के तार से बँधे हुए कलीरे, फिर कलाइयों में बाँधे। कुछ देर बाद दूल्हा साहब आ गये, यद्यपि चालीस वर्ष के हैं, तो भी गठे हुए शरीर के रोबीले आदमी हैं। शायद किसी ने उनकी आयु को देख कर नाक भौं सिकोड़ी; शायद किसी ने मेरे पिता को कोसा, शायद किसी ने कहा—लड़की को नरक में ढकेल दिया है! लेकिन मैंने इन बातों की कोई परवाह न की, खुशी-खुशी चौकी पर जा बैठी। सुबह चार बजे शादी की रस्म पूरी हुई। मैं ऊपर आ गयी। ललता अभी तक बैठी थी। मुझ से लिपट गयी और बहुत देर तक रोती रही। मैं हँस दी। यह गर्व की हँसी थी। शत्रु को अपने पंजे में गिरफ्तार करके छोड़ देना, कितने गर्व की बात है! सुमित्रा! सच कहती हूँ, मेरे सिर से एक बोझ-सा उतर गया, मैं हत्यारिन होने से बच गयी। यदि स्वर्ग और नरक के चुनाव में मैंने नरक को चुना तो कोई बात नहीं, मैं उसे भी स्वर्ग बना लूंगी। प्रार्थना करो मेरी प्रतिज्ञा पूरी हो।

तुम्हारी,
लक्ष्मी।

चित्रकार की मौत

लाल चन्द

जब रात-दिन एक करने पर भी मैं कम्पार्टमेण्ट में ही आया तो कई दिन तक घर से बाहर न निकला। सब आशाएं मिट गयीं। सूरत तक दिखाने में लज्जा आने लगी। जगत ने बहुत नम्बर पाये थे। वह अव्वल दर्जे में पास हुआ था। राधारानी दूसरे दर्जे में आई थी। पर मैं बी० ए० की नदी पार न कर सका। मेरी नाव मँझधार में ही रह गयी। गणित से मुझे पहले ही चिढ़ है; घरेलू परीक्षाओं में कभी पास नहीं हुआ, परन्तु जैसा पहले होता आया था, वार्षिक परीक्षा में उत्तीर्ण होने की मुझे पूरी आशा थी। परिश्रम भी मैंने कम न किया था। सोलह, सत्रह घण्टे रोज़ाना—कह लेना सुगम है, परन्तु सत्य ही परीक्षा के दिनों में मेरे अध्ययन की औसत सोलह-सत्रह घण्टे बैठती थी। यों काम करने को तो मैं ने कुछ दिन बाईस घण्टे और एक दिन चौबीस घण्टे भी काम किया। सारा-सारा दिन प्रश्नों में दिमाग़ खपाया, किन्तु परिणाम कुछ भी न निकला। गणित में कम्पार्टमेण्ट आ गया। मेरी हिम्मत टूट गयी, जी उदास

हो गया, खाना-पीना छूट गया। पर कब तक? आख़िर मित्रों के कहने-सुनने और घर वालों के समझाने-बुझाने पर फिर किताबें ले बैठा। किताबें तो ले बैठा, पर पढ़े कौन? किताबें सामने रख लेने-मात्र से ही तो सब कुछ कण्ठस्थ नहीं हो जाता। बहुतेरा प्रयास किया, पर व्यर्थ! पढ़ने से जी घबराता था; परीक्षा पहाड़ की उस चोटी की भाँति दिखाई देती थी, जिस पर चढ़ना दुश्वार हो। एक सड़क थी, जो क्षितिज में गुम हो जाती थी। मैं असमञ्जस में पड़ गया। कोई निश्चय न कर सका।

अँधेरे में अचानक ज्योति की किरण चमक उठी। डूबते को तिनके का सहारा मिल गया। मिस्टर मान लाहौर के प्रख्यात चित्रकार थे। उनकी कला की धूम सिर्फ़ भारत में ही नहीं, अन्य देशों में भी मची हुई थी। मेरे चित्र देखे, तो तड़प उठे। कहने लगे—"तुम तो बड़े-बड़े चितेरों के कान काटते हो, कहाँ समय नष्ट कर रहे हो, इस ओर क्यों नहीं आ जाते? आज कल पढ़ाई कला का पानी भरती है। पढ़कर क्या लोगे? और यदि सफल चित्रकार बन गये, तो ख्याति के साथ दौलत भी पाँव चूमेगी।"

बात भी ठीक थी, दिल में उतर गयी। पर मेरा असमञ्जस न दूर हुआ। कई दिनों तक मस्तिष्क में जो उधेड़बुन रही, जी ही जानता है। कभी सोचता, कम्पार्टमेण्ट पास करके एम० ए० में दाख़िल हो जाऊँ और अंग्रेज़ी लेकर जगत और राधा दोनों को मात कर दूँ! कभी ख्याल आता—चित्रकार बन जाऊँ और अपनी ख्याति का डङ्का चारों दिशाओं में बजा दूँ। इस दोराहे पर ऐसा ठिठका कि किसी ओर चलने का निर्णय न कर सका। एक ओर एम० ए० का मार्ग था—ऊबड़-खाबड़ और कन्टकाकीर्ण। पहले कम्पार्टमेन्ट के काँटे दूर करूँगा, तो मंज़िल पर पहुँच पाऊँगा। दूसरी ओर कला का रास्ता था, सीधा और सरल। इस में न कोई उलझन थी, न कोई झंझट। परिश्रम भी बहुत नहीं। बचपन ही से मेरी रुचि कला की ओर रही है। मेरे चित्र अब तक भी

कॉलेज के हॉल में टँगे हुए हैं। मैं सोचता, चित्रकार क्यों न बन जाऊँ? आख़िर परीक्षा ही तो संसार में उन्नति का एक मार्ग नहीं। अधिकांश बड़े-बड़े कवि, चित्रकार, वैज्ञानिक, लेखक, आविष्कारक यूनीवर्सिटी की परीक्षाओं में उत्तीर्ण न हो सके थे, फिर भी उनके नाम ख्याति के आकाश पर सितारों की भाँति चमक उठे और आज तक चमक रहे हैं। मैंने इस प्रश्न पर भली भाँति विचार किया। चित्रकार बनने से मुझे ख्याति प्राप्त करने का विश्वास था और राधा का प्रेमपात्र बनने की पूरी आशा।

राधारानी जगत से प्रेम करती थी। वह उसकी विद्वत्ता पर मोहित थी। मुझे जगत से ईर्ष्या होती थी। मैं राधा का दीवाना न था, पर यह भी सहन न कर सकता था कि वह मेरे सामने जगत से प्रेम करे। उसे भी चित्र बनाने का शौक़ था। अच्छे चित्र बना लेती थी वह। कालेज में प्रायः वह मेरे बराबर रहा करती थी, परन्तु उस बराबरी में कला की उत्कृष्टता की अपेक्षा उसका नारी होना अधिक वज़न रखता था। मैं सोचता, अब मुझे अपनी कला का चमत्कार दिखाने का अवसर मिलेगा। जब लोग मुक्त-कंठ से मेरी कला की प्रशंसा करेंगे, जब पत्र-पत्रिकाएँ मेरे चित्र छापने में गर्व अनुभव करेंगी, जब सब ओर उनकी माँग होगी, तो राधा को भी मालूम होगा कि बी० ए० में फ़र्स्ट डिवीज़न प्राप्त कर लेना ही बड़ा तीर मारना नहीं।

मैं तङ्ग रास्ते को छोड़कर प्रशस्त मार्ग पर हो लिया। मीठी और अनुभूत दवाई होते हुए कड़ुवी औषधि क्यों पीता?

माल रोड पर मि० मान की दुकान के साथ दुकान लेकर मैंने काम आरम्भ कर दिया। कुछ ही दिनों बाद प्रान्त भर के प्रसिद्ध पत्रों में मेरे चित्र प्रकाशित हुए।

जगत किशोर

बार-बार सोचता हूँ बार बार प्रण करता हूँ, अब राधा से न मिलूंगा, उसे सूरत तक न दिखाऊँगा; किन्तु जब मौका मिलता है,

चुपचाप उधर जा निकलता हूँ, जैसे कभी रूठा ही न था, कभी कोई बात ही न हुई थी। सोचता हूँ यदि वह न होती, तो क्या जगतकिशोर जगतकिशोर होता? कहीं एफ० ए० में एड़ियाँ रगड़ता। बी० ए० में अव्वल दर्जे में न आता। उसे देख कर, उससे बातें करके शरीर में शक्ति-सी आ जाती है। इतना पढ़ता हूँ फिर भी नहीं थकता। दसवीं में मर कर पास हुआ था, परन्तु एफ० ए० में ज्यों ही उसे देखा, ऐसा प्रतीत हुआ जैसे किसी ने मृत-शरीर में जान फूंक दी है। इतना परिश्रम आयु-पर्यन्त न करता। वह भी पढ़ती, मैं भी पढ़ता। उसके साथ अध्ययन में कितना आनन्द आता, कितना याद होता! पर नहीं, उसे अभिमान हो गया है। मिथ्या दम्भ अब उसे प्रिय लगने लगा है। उसे विश्वास है कि मैं उसके बिना नहीं रह सकता। मानो यदि वह न होगी, तो एम० ए० पास ही न कर सकूँगा। नहीं तो वह मेरी साधारण सी इच्छा को यों न ठुकरा देती।

सवेरे जब उस के मकान पर गया, तो वह चित्र बना रही थी। मैं बैठक में बैठने के बदले सीधा वहाँ चला गया। उसके पिता तहसीलदार थे, अब रिटायर हो गये हैं। उन्हों ने लाहौर में मकान बनवाया है। मेरे पिता के वे घनिष्ट मित्रों में से हैं। एक दूसरे के घर में आना-जाना खुला है। मैं उन के घर बेरोक-टोक चला जाता हूँ। वहाँ भी चला गया। वह दूसरी ओर मुँह किये एक चित्र बनाने में व्यस्त थी। किवाड़ खुलने की आहट पर उसने चित्र को दीवार की ओर कर दिया। पल भर के लिए उस के मुख पर क्रोध की झलक दिखाई दी, पर मुझे देखते ही वह मुस्कराकर उठ खड़ी हुई। मैं सूट पहने हुए था, इसलिए दरी पर न बैठा। वह भाग कर कुर्सी उठा लाई। मैं बैठ गया। वह मुस्करा दी।

मैंने कमरे में इधर-उधर निगाह दौड़ाई। हर दीवार पर एक न दो सुन्दर तस्वीरें थीं! मैंने पूछा, "ये सब तुम्हारी कला का चमत्कार है राधा?"

" सुनती तो हूँ " उसने अत्यन्त मीठे स्वर से कहा, गर्दन को तनिक सा हिलाया और मुस्करा दी। मैंने भी मुस्करा दिया।

" अभी किस चीज़ में यों निमग्न थीं ? "

" चित्र में। "

" मुझे दिखाओ। "

" प्रदर्शनी में देखना। "

" कौन-सी प्रदर्शनी ? "

" विश्वविद्यालय की। "

" तो यों कहो, इस बार यूनीवर्सिटी की नुमाइश में प्रथम रहने के इरादे हैं! "

राधा का चेहरा उतर गया, कहने लगी—" ऐसे भाग्य कहाँ ? "

मैंने चित्रों पर एक दृष्टि डाली और बोला,—" मैं शर्त लगाता हूँ, तुम सर्व-प्रथम रहोगी, तुमसे कोई न जीत सकेगा। "

" और लालचन्द ! "

" उसकी तुम्हारे सामने क्या हस्ती है! "

"नहीं", उसने एक निःश्वास छोड़ते हुए कहा, " लालचन्द हुआ तो उससे बाज़ी ले जाना टेढ़ी खीर है। "

सहसा मैंने कुछ सोचकर कहा, " वह भाग ले भी सकेगा ? "

" क्यों ? उस के मार्ग में कौन-सी बाधा है ? "

" उसने व्यवसाय जो आरम्भ कर दिया है। "

" फिर क्या हुआ, वह एक साल तक कम्पार्टमेण्ट में तो बैठ सकता है। "

" तो भी " मैं बोला, " उस की कला के बारे में तुम अत्युक्ति से काम ले रही हो। मैं कहता हूँ लालचन्द ने तुम्हारा एक भी चित्र नहीं देखा, नहीं तो वह चित्रकला का विचार ही छोड़ देता।

" रहने भी दो। मेरी प्रशंसा से तुम्हें क्या मिल जायेगा ? "

" मैं झूठी प्रशंसा नहीं करता, सत्य कहता हूँ। " मैंने गम्भीरता

से कहा। वह केवल हँस दी और फिर अन्यमनस्कता से खिड़की के बाहर देखने लगी। मैं उस का एक चित्र देखने में निमग्न हो गया। यह उस का अपने हाथ से बनाया हुआ अपना चित्र था।

" राधा!" मैंने कुछ क्षणों के बाद कहा।

" हाँ।" वह चौंककर बोली।

" यह चित्र मुझे दे दो।"

उसने चित्र का मुँह कोने की ओर कर दिया और बोली—" तुम्हें नहीं मिल सकता।"

मैंने उसकी आँखों में आँखें डालीं। देखने का प्रयास किया कि वह हँस तो नहीं रही है; परन्तु वहाँ गम्भीरता थी। उसकी आँखें शान्त थीं और ओंठ एक दूसरे से सटे हुए थे। मैंने फिर पूछा—" नहीं मिल सकता?"

" बीस बार कहती हूँ नहीं, नहीं, नहीं, नहीं, मिल सकता।"

मुझे दुःख हुआ। मैं झुँझला उठा। वह मेरे साथ पढ़ती थी। तीन साल से हम इकट्ठे पढ़ते आये थे। मैं प्रायः प्रतिदिन उसके यहाँ जाया करता था। वह भी कभी हमारे घर आ जाती थी। मुझे उस के मित्र होने पर गर्व था। उस की हर वस्तु को मैं अपनी समझता था। पर आज मालूम हो गया—मैं उस का कोई नहीं। वह मेरी खुशी को कुछ नहीं समझती। एक चित्र उस से कहीं अधिक मूल्य रखता है।

मैंने फिर एक बार उस की ओर देखा। उस के मुख पर वही गम्भीरता थी। क्रोध से मैं उठ आया। शायद वह मेरे पीछे आयी; शायद उस ने मुझे आवाज़ दी; शायद उसने कहा—"आओ, चित्र लेते जाओ।" पर मैंने कुछ नहीं सुना, लम्बे लम्बे डग भरता चला आया।

मैंने प्रण कर लिया है, अब मैं उसकी ओर न जाऊँगा। प्रदर्शनी में भी कोई भाग न लूँगा। उसे मालूम हो जायेगा, मै उसके बिना भी जी सकता हूँ, पढ़ सकता हूँ और सब काम कर सकता हूँ।

राधारानी

यह बेचैनी क्यों ? यदि जगत ने मेरा अपमान किया, उसने मेरा चित्र लौटा दिया, तो क्या हुआ—साधारण बात है। पर नहीं, यह साधारण बात नहीं। उसने मेरा निरादर किया है। यदि मैंने हँसी-हँसी में अपना चित्र न दिया, तो उसे यों क्रोध में न आना चाहिए था फिर मैंने अपनी ग़लती का प्रायश्चित्त कर लिया। क्षमा मांग ली। चित्र अपने नौकर के हाथ उसके पास भिजवा दिया। उस ने उसे भी वापस कर दिया। अहङ्कार की हद हो गयी। उसने समझा, राधा स्वयं उसे मनाने जायेगी; वह उस के पाँव पड़ेगी। राधा जगत के बिना जी नहीं सकती। वह पागल हो जायेगी, दीवानी हो जायेगी। उसका ख्याल गलत है। राधा जगत के बिना भी जी सकती है। अपना काम जारी रख सकती है। वह विष न खा लेगी। आत्मा-हत्या न कर लेगी।

फिर यह विह्वलता क्यों ? यह आकुलता कैसी ? सन्तोष का बाँध क्यों टूट गया है ? दिल के समुद्र मे तूफ़ान क्यों उमड़ा आता है।

मैं उसे मनाने न जाऊँगी, कभी भी न जाऊँगी। मै चित्र बनाऊँगी और अपनी व्याकुलता को उन में गुम कर दूँगी...पर क्या मैं लालचन्द को जीत सकूंगी ? उस की सुन्दर कृतियों को देख कर अब चित्र भेजना ही व्यर्थ है। कितना निपुण कलाकार है ! फिर भी कितना सहृदय, कितना सीधा और कितना सरल !! बात करता है, तो मिठास की नदी बहा देता है; मुस्कराता है; तो दूसरे के हृदय को खींच लेता है। जगत-सी उच्छृङ्खलता, उसका सा ओछापन उसमें नहीं। कल जब माल रोड पर मि० मान की दूकान पर कुछ खरीदने गयी, तो लालचन्द वहीं था। मुझे देखा, तो हाथ जोड़ कर नमस्ते की और एक ओर हट कर खड़ा हो गया। मैंने पूछा, "सुनाओ लालचन्द, क्या शग़ल हैं आजकल।" मेरी बात में व्यंग्य था। उस ने इस ओर ध्यान नहीं दिया और चुपचाप मुझे अपने चित्रागार में ले गया। वहाँ पहुँच कर मैं आश्चर्यान्वित

खड़ी देखती रह गयी। मुझे पहली बार लगा कि लालचन्द एक महान् पर्वत है और मैं उसकी महत्ता पर हैरान रह जाने वाली छोटी-सी घाटी, या वह विशाल वृक्ष है और मैं उसकी छाया में उगी नन्ही सी कोंपल !

कमरे में चारों ओर कला के सुन्दर नमूने टँगे हुए थे। चित्रों में जान नहीं थी, पर वे जानदार प्रतीत होते थे, उन के जिह्वा नहीं थी, पर कला की जिह्वा से सब कुछ बता रहे थे।

"यह चित्र कौन-सा है ?" मैंने एक चौखटे को, जिस का मह दीवार की ओर था, उठाते हुए कहा।

लालचन्द की दृष्टि धरती में गड़ गयी। यह मेरा चित्र था। मैंने क्रोध से कहा, -"लालचन्द, यह चित्र बनाने से मतलब ?"

वह चुप रहा, फिर बोला—"यह सब तस्वीरें कॉलेज के दिनों की स्मृति मात्र हैं राधा, मैंने दूसरे मित्रों के चित्र बनाये थे, तुम्हारा भी बना लिया।"

"पर मैं तो तुम्हारी मित्र न थी !"

उसने दृष्टि ऊपर उठायी। हमारी निगाहें चार हुईं। उसकी आँखों में करुणा थी, व्यथा थी। मेरे दिल को कुछ होने-सा लगा, मैंने चित्र ले लिया और आवेग में चली आयी। घर आकर मैंने पचास रुपये के नोट नौकर के हाथ भेजे। उसने उन्हें लौटा दिया और लिखा, "इसका मूल्य कौन दे सकता है ?" उसके इस उत्तर में क्या भेद है ? क्या मेरा चित्र उसके लिए मूल्यवान हो सकता है ? नहीं यह मेरा भ्रम है। पर उसने मेरा चित्र बनाया ही क्यों ? और यदि बनाया था, तो यह उत्तर क्यों लिखा ?

दोनों चित्र मेरे सामने हैं। दोनों मेरे ही हैं। एक मैंने बनाया है, दूसरा लालचन्द ने। दोनों में कितना अन्तर है ? एक नक़ली मालूम होता है, दूसरा असली। जगत ने मेरे बनाये हुए चित्र की प्रशंसा की थी, वह उसे ले जाना चाहता था। यदि वह यह चित्र देख लेता, तो

इसे देखना भी पसन्द न करता। अबकी जगत ने फिर चित्र माँगा, तो यही चित्र दूँगी—परन्तु फिर जगत !—यदि उसने सहस्र बार भी इसे माँगा, तो न दूँगी। दोनों मेरे चित्रागार की शोभा बढ़ायेंगे। पर मैं यह चित्र बिना मूल्य के न लूँगी। मैं एक बार फिर रुपये और चित्र भेजूँगी और लिख दूँगी कि मैं यह चित्र चाहती हूँ, पर बिना मूल्य के नहीं। दोनों में से एक रख लो—रुपये अथवा चित्र !

लालचन्द

राधा मेरे चित्रगार में क्या आयी, एक अलौकिक दीप्ति मानों मेरे इस अँधेरे कमरे को आलोकित करती चली गयी। दिल की तारीक दुनिया जगमगा उठी। निर्जीव चित्रों में एक सजीव तस्वीर आ खड़ी हुई। कविता, सङ्गीत और और माधुर्य्य का एक सुन्दर संसार मेरे इस छोटे से कमरे मे खिंच आया।

वह मुझ से अपना चित्र छीन कर ले गयी। उसे अच्छा लगा या उस ने मुझे उस से वञ्चित करने की ठानी, कौन जाने ? पर राधा के चित्र बिना चित्रशाला ही क्या ? यह तसवीर भी क्या खूब बनी है। मैंने उस दिन का दृश्य खींच कर रख दिया है। यह वह खड़ी है और यह मैं। उस के हाथ में उस का चित्र है, मेरा सिर लज्जा से झुक गया है। इसे प्रदर्शनी में भेज दूँ। इस का शीर्षक रख दूँ "कलाकार की लज्जा" ! पर नहीं उसे दुःख पहुँचेगा। इसे नुमाइश में नहीं भेजूँगा कोई और चित्र बनाकर भेज दूँगा। अपने नाम से नहीं, उसके नाम से। पुजारी देवता का मुक़ाबिला करे, कैसे हो सकता है ?

उस ने चित्र लौटा दिया। उस ने लिखा—'मैं इसे मूल्य दिये बिना नहीं लूँगी।" वह क्या जानें, वह मूल्य दे चुकी है। उसे क्या मालूम—मूल्य केवल चाँदी के चन्द टुकड़ों से ही नहीं चुकाया जाता। उस का एक बार मेरे चित्रागार में आ जाना ही मुझे सदैव के लिए खरीद कर ले जाना था। मैंने रुपये रख लिये; मैं उसे नाराज़ न करना चाहता था।

उस ने लिखा—"मै इस अनुग्रह के लिए आयु भर कृतज्ञ रहूँगी।" जरूर ही यह चित्र वह जगत को भेंट करेगी। मेरी आत्मा मुझ से छीन कर दूसरे को जीवन दान देगी। परन्तु चाहे यह चित्र वह जगत को दे या स्वयं रखे, पर उस ने यह तो कहा, "मैं आप की कला पर मोहित हूँ।" आखिर उसे ज्ञात तो हो गया कि लालचन्द कुछ योंही नहीं। वह भी कुछ गुण रखता है। यदि जगत एम० ए० भी हो गया, तो उसे कौन पूछेगा। इसके विपरीत मेरे चित्रों की धूम देश-भर में मच जायेगी। राधा ने भी मान लिया कि मेरे हाथों में जादू है। शायद हो, परन्तु कौन है जो मुझ से इतने अच्छे चित्र बनवा लेता है। मेरे हाथों में जादू भर देता है? तुम्हीं तो हो राधा, तुम्हारी कल्पना ही तो इस पर्दे में काम करती है। यदि तुम्हारा ध्यान न हो, तो क्या लालचन्द इतने अच्छे चित्र बना सके? बिलकुल नहीं! तुम पर अपने गुणों का सिक्का जमाने ख्याल ही तो था, जिस ने उसे चित्रकार बनने के लिए उकसाया। नहीं तो इस समय लालचन्द कम्पार्टमेण्ट की परीक्षा की तैयारी में होता न तुम्हारा ध्यान छोड़ सकता, न पढ़ सकता।

राधारानी

मिनार्ड हाल में नुमाइश हो रही है, दूसरे प्रान्तों के छात्रों ने भी अपने चित्र भेजे हैं, दर्शक काफ़ी सख्या में प्रदर्शनी देखने जाते हैं— यह सब कुछ मुझे मालूम था, पर मैं नुमाइश देखने न गयी थी। न मैंने अपना चित्र ही भेजा था। नुमाइश का अन्तिम दिन था। मैंने अपने कमरे में निश्चल बैठी लालचन्द के और अपने चित्र की तुलना कर रही थी। उस के मुक़ाबिले में चित्र भेजना ही व्यर्थ था। कहाँ वह और कहाँ मैं। उठी और उठ कर मैंने दोनों चित्र एक साथ दीवार पर लगा दिये। उसी समय किवाड़ खुले और बगूले की भाँति जगत अन्दर दाखिल हुआ। उस का मुख प्रसन्नता के मारे लाल हो रहा था। उस ने आते ही मेरे कन्धों को थपथपाते हुए कहा—"बधाई हो राधा, नुमाइश में तुम्हारा चित्र सर्व-प्रथम रहा। भला तुम वहाँ गयी क्यों

नहीं ? मुझे अभी पता लगा है। पुरस्कार बाँटे जानेवाले हैं। प्रिंसिपल साहब ने तुम्हें बुलाया है। कार बाहर खड़ी है, चलो, जल्दी करो।"

वह एक ही साँस में इतना कुछ कह गया। मैंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। अवाक्-सी खड़ी रह गयी। मेरा चित्र सर्व-प्रथम रहा, मुझे पुरस्कार के लिए बुलाया जा रहा है, यह कैसे हो सकता है ? यह कैसे हो सकता है ? जब मैंने कोई चित्र ही नहीं भेजा। जगत मुझे खींच रहा था। उसे रोक कर मैंने कहा—"जगत, मैंने तो कोई चित्र भेजा ही नहीं।"

"चलो अब छोड़ो भी। वहाँ तुम्हारा चित्र सर्व-प्रथम आया है और तुम कहती हो, मैंने चित्र ही नहीं भेजा"—वह मुझे खींचता हुआ बाहर ले आया। हम कार में बैठे, और चन्द मिनट बाद हम मिनार्ड हाल में थे। हॉल दर्शकों से भरा हुआ था। तिल धरने को भी जगह न थी। पुरस्कार बाँटने की कार्रवाई शुरू होने वाली थी। मेरे जाते ही हॉल तालियों से गूँज उठा। हमारे कालेज के प्रिंसिपल ने मेरी कला पर संक्षिप्त-सा व्याख्यान दिया। इसके बाद मुझे स्वर्ण-पदक दिया गया। कुछ दूसरे पुरस्कार भी बाँटे गये, फिर सभापति महोदय ने चित्र-कला पर अपना भाषण आरम्भ किया।

मैं इस बीच में दर्शकों की दृष्टि का केन्द्र बनी रही। जब अपनी जगह आकर बैठी, तो मेरा दिल ज़ोर-ज़ोर से धक्-धक् कर रहा था। मेरी दशा उस भिखारी की-सी थी, जिसे कुटिया से खींचकर सिंहासन पर बैठा दिया गया हो। सोचती थी—किस ने मेरे नाम से चित्र भेज दिया ? कौन सा चित्र है जिस पर मुझे पुरस्कार मिला ? एक हलका-सा संदेह मेरे मन में था। यदि मैंने चित्र नहीं भेजा, तो हो सकता है उसने भेज दिया हो। मैं उद्विग्न-सी हो उठी। मुझे सभा की कार्रवाई बहुत नीरस जान पड़ी। प्रधान का भाषण समाप्त होने में न आता था और मैं चित्र देखने के लिए उत्सुक थी।

सभा विसर्जित होते ही मित्रों और प्रोफेसरों ने मुझे बधाई दी। परन्तु मैं शीघ्र ही सबसे छुट्टी पाकर जगत को एकान्त में ले गयी और

उससे पूछा—"जगत, वह चित्र तो दिखाओ जिस पर मुझे पुरस्कार मिला है।"

"तुम्हें दिखाऊँ ?" उसने एक ठहाका लगाया, वही तो है जो तुम उस दिन मुझे न दिखाती थीं।"

"वह तो मैंने नुमाइश में भेजा ही नहीं जगत !"

"अब रहने भी दो", उस ने मुझे घर चलने को खींचते हुए कहा, "चलो घर चलें और पिता जी को यह सुसमाचार सुनायें।"

मैं बोली—"मैं तो सब चित्र देखकर ही चलूंगी, मैंने तो नुमाइश देखी ही नहीं।"

वह विवश होकर आगे-आगे हो लिया, मैं पीछे-पीछे चली। हम दोनों गैलरी से गुज़रे। दो कमरों में चित्र सजाये गये थे। कला के इतने अच्छे नमूने मौजूद थे कि मैं हैरान रह गयी। 'इन सब के सामने अपना चित्र भेजना व्यर्थ ही तो था'—दिल में मैंने सोचा।

एक चित्र के पास जगत रुक गया। बोला—

"राधा, जी चाहता है वे हाथ चूम लूँ जिन्हों ने यह तस्वीर बनाई है, तुम ने इतना अच्छा चित्र बनाना कहाँ से सीख लिया ?"

मैंने देखा, कला का एक उत्कृष्ट नमूना सामने है। एक चित्रकार चित्र बनाता-बनाता भूल गया है और अपनी प्रियतमा का चित्र बनाने लगा है। मॉडल कुछ और ही था और चित्र कुछ और ही बन रहा था। परन्तु यह चित्र मेरे नहीं लालचन्द के हाथ से बना था। मेरा संदेह ठीक ही था। मैंने पहचान लिया था। यह उसी का बनाया हुआ चित्र था।

घर आने पर सबसे पहले मैं लालचन्द की चित्रशाला में गयी। वह कोई चित्र बनाने में निमग्न था। मेरे जाते ही उसने चित्र छिपा दिया। मैंने क्रोध में कहा—"लालचन्द !"

वह चुप रहा, केवल उसकी दृष्टि ऊपर उठी।

"तुम ने मेरे नाम पर चित्र क्यों भेजा ?"

"मैंने !" हैरानी प्रकट करने की कोशिश करते हुए उसने कहा।

"और किसने ? मैं बीसियों में तुम्हारा चित्र पहचान लूँ, लालचन्द !"

वह निर्निमेष मेरी ओर देखता रहा। मैंने जेब से स्वर्णपदक की डिबिया निकाली।

"लालचन्द !"

"यह पदक तुम्हारा ही है, इस पर मेरा कोई हक़ नहीं !" यह कहते-कहते मैंने चुपचाप पदक उसके कुर्ते में टाँक दिया।

वह उतारने लगा। मैंने कहा—"इसे यहीं रहने दो, मुझे दुःख होगा।"

एक क्षण के लिए हमारी निगाहें चार हुईं। मेरा दिल धड़कने लगा। मैं ज़्यादा न ठहर सकी, चली आयी।

जगलकिशोर

राधा के असमञ्जस पर भी हमारे माता-पिता ने हमें विवाह के अटूट बंधन में बाँध दिया। उन्होंने उसकी झिझक को नारि-सुलभ-लज्जा ही समझा। इन दिनों जाने राधा को क्या हो गया था। विवाह के नाम से उसे चिढ़-सी हो गयी थी। इन्कार पर इन्कार करने लगी। मैं घबरा गया। परन्तु हमारी सगाई हो चुकी थी और वह एक बार इस सम्बन्ध में अनुमति प्रकट कर चुकी थी, अब वह इसका विरोध न कर सकी। जो थोड़ा-बहुत असमञ्जस उस ने प्रकट किया, उस पर किसी ने ध्यान न दिया। वह सारा दिन मैंने अपने मित्रों में बिताया।

उस दिन मेघ घिर आये थे, मत्त बयार चल रही थी, वृक्षों की मरमर में उल्लास गीत गा रहा था, फूल-फूल, पत्ता-पत्ता नाच उठा था। मैं भी प्रसन्न था। उदास न था कि मुझे बादलों की घटा को देख कर दुःख होता और वायु की सांय-सांय-पर मेरे हृदयसे निःश्वास निकलते। मैं प्रसन्न था और घन के गर्जन में, वायु की सांय-सांय में, पत्तों की मरमर में मुझे अपने उल्लास की ही प्रतिध्वनि सुनाई देती थी। मित्रों

ने उस दिन पीने के लिए कहा, और मैंने विवश होकर उनका दिल रखने के लिए एक-दो घूंट पी भी। फिर सारा दिन गाना होता रहा। मैं घर जाना चाहता था,.पर मित्र कब छोड़ते थे। उन का विचार था कि विवाह के पश्चात् मित्र मित्र नहीं रहता। कहने लगे, "आज तो जी भर कर देख लेने दो दोस्त, फिर तो तुम्हारे दर्शन भी दुर्लभ हो जायेंगे।" मैं हँस पड़ा। उन के विचार में, मैं अब 'मैं' न रहा था।

सन्ध्या को पाँच बजे के क़रीब मैंने मित्रों को विदा किया और अन्दर जाने को ही था कि किसी ने मुझे एक चित्र और एक तस्वीर दी। मैं चित्र को लिए हुए राधा के कमरे में चला गया। वह अपनी चित्रशाला में बैठी एक चित्र देख रही थी। चित्र उसका ही था, शायद उस ने बनाया था या किसी और ने, मैंने कभी पहले उसे न देखा था। उस की दृष्टि उस में गड़ी हुई थी और वह मूर्तिवत् निर्निमेष उसे देख रही थी।

मैंने आयी हुई तस्वीर और पत्र उस की गोद में रख दिये। वह चौंक पड़ी।

"लालचन्द ने तुम्हारे विवाह पर तुम्हें उपहार भेजा है।" उस ने तस्वीर को देखा, उस की और मेरी दोनों की तस्वीर थी। आवेश में उस ने उसे चूम लिया। उस के मुख से अनायास एक दीर्घ-निःश्वास निकल गया। फिर उस का मुख पीला पड़ गया। "उस के हाथों में जादू है!" उस ने लम्बी साँस लेते हुए धीरे से कहा और चुप हो गयी। कुछ क्षण वह इसी तरह चुप बैठी रही, फिर अचानक मुड़ कर उस ने कहा...

"जगत!"

"हाँ।"

"एक बात है।"

"कहो।"

"मानोगे?"

"क्यों नहीं।"

"मैं तुम्हारे साथ, इसी वेश में, इन्हीं विवाह के कपड़ों मे लालचन्द से चित्र खिंचवाना चाहती हूँ। कितना महान् कलाकार है वह।"

मेरे हृदय पर एक हलका-सा बादल एक निमिष के लिए आया और चला गया। मैंने कहा, "यह चित्र भी तो हम दोनों का है।"

"यह कालेज के फोटो में से लेकर बनाया गया है।" उस ने कहा, "मैं चाहती हूँ, हम इसी वेश में एक चित्र खिचवायें।"

"बहुत अच्छा, चलो।" और हम चल पड़े।

उन दिनों वह कुछ उदास-सी रहा करती थी और मैं दिल में उस के हर आग्रह को पूरा करने की प्रतिज्ञा कर चुका था। बाहर निकल कर मैंने शोफ़र को आवाज़ दी। वह बोली, "मैं मोटर पर न जाऊँगी।"

हम पैदल ही चल पड़े। उस समय आकाश पूरे का पूरा बादलों से घिर चुका था। बयार का उन्माद पराकाष्ठा को पहुँच गया था। वृक्ष झूम उठे थे। प्रकृति का कण-कण नाच रहा था। पर हम चुपचाप चले जा रहे थे। मैंने एक-दो बार बातचीत आरम्भ करने की कोशिश की पर उसकी उदासीनता ने मुझे चुप करा दिया। वर्षा के डर से बरसाती पहन कर मैं चुपचाप चलता गया। ऐसा मौसम और यह खामोशी! हृदय से एक निःश्वास निकल पड़ा। अपनी अवस्था पर दुःख हुआ। ऐसे में तो बोलने को, गाने को, शोर मचाने को जी चाहता है। और हम दोनों चले जा रहे थे, अलग-अलग और चुपचाप!

दुकान आ गयी। मि० मान बाहर खड़े थे। मैंने पूछा "मि० लालचन्द अन्दर हैं?"

"वह दुकान छोड़ गये हैं।"

"दुकान छोड़ गये हैं?" राधा ने बेताबी से पूछा।

"जी हाँ।"

"और चित्र?"

"जला दिया पागलपन की झोंक में उनको!"

राधा ने एक लम्बी साँस छोड़ी और अन्तिम आशा का सहारा लेते हुए पूछा—"अब कहाँ मिलेंगे ?"

"कम्पार्टमेण्ट की तैयारी करने अपने गाँव को चले गये हैं।"

मरीचिका

पुरानी अनारकली,
लाहौर।

मेरी शकुन्तला,

अभी-अभी अपने इस कमरे—इस नीरस और निर्मम कमरे—में लौटा हूँ। बुध और बुध आठ दिन हो गये हैं; किन्तु कौन कह सकता है कि यह आठ दिन थे ! यह तो आठ क्षण भी नहीं थे, मानो प्रेम की गाड़ी के 'फ़्लैग स्टेशन' थे, जो आँख झपकते ही निकल गये। प्रेम की मस्त और मनभावनी रातों के पश्चात् यह रात कितनी उदास, और बेरौनक़ लगती है। कमरा उसी प्रकार सजा हुआ है; परन्तु इस में अब कोई आकर्षण नहीं। पहले इस में आते ही लेटने, बैठने, पढ़ने को जी चाहता था, अब यहाँ से निकल जाने को, भाग जाने को और एकान्त में अपनी कल्पनाओं की अलग दुनिया बसाने को मन होता है।

सोचता हूँ—काश, मैं इस दहलीज के अन्दर पाँव न रखता, काश,

मेरे बाजुओं में पर लग जाते और मैं एक स्वतंत्र पंछी की तरह उड़ कर तुम्हारे पास पहुँच जाता। यही दीवारें, यही फ़र्नीचर, जो पहले नाचता हुआ प्रतीत होता था, अब खाने को दौड़ता है! चीज़ें वही हैं; किन्तु अब उनमें मुझे घंटों मंत्र-मुग्ध बैठाये रखने की शक्ति नहीं। पंखा उसी तरह घर-घर कर रहा है; किन्तु उसकी ध्वनि से अब पलक भारी नहीं होते।

कमरे की हर वस्तु पर मिट्टी की एक हलकी-सी तह जम गयी है। फ़र्श पर पाँवों के चिह्न अंकित हो रहे हैं। बाहर भयानक सन्ध्या अपने आँचल में अँधेरे को छिपाये मुझे निगल जाने को दौड़ी आ रही है और मैं इस कमरे में इस तरह बैठा हूँ, जैसे स्वप्न के मसार में किसी मृतक की छाया। अतीत में कल रात की उल्लास-जनक स्मृति है, भविष्य में विरह की गहरी छाप।

अश्रुपूर्ण आँखें लिये तुम से जुदा होकर मैं मोटरों के अड्डे पर पहुँचा। सूर्य आग उगल रहा था। मेरे दिल में पहले ही आग-सी लगी हुई थी और यदि कोई वस्तु इस ज्वाला से इस शरीर की रक्षा कर रही थी, तो वह थी तुम्हारी चन्दन-सी शीतल और मादक स्मृति।

मोटरों के अड्डे पर एक मित्र मिल गये, उन्होंने बलपूर्वक सोडा-वाटर का गिलास मुँह से लगा दिया। मेरा गला तो पहले ही से सूखा हुआ था, एक ही साँस में गट गट पी गया। इस से बाहरी प्यास तो बुझ गयी; किन्तु दिल की प्यास—दिल की तृष्णा—और तेज़ हो उठी; शकुन्त, और तेज़ हो उठी!

मार्ग में बीसियों सुन्दर और रोचक दृश्य आँखों के सामने से गुजरे, किन्तु मन को कोई भी अच्छा न लगा। मोटर लाहौर को जा रही थी और मन जालन्धर के उस कमरे की परिक्रमा कर रहा था, जहाँ हमने मुहब्बत के थोड़े से क्षण व्यतीत किये थे। मस्तिष्क तुम्हारा चित्र—तुम्हारा सुन्दर चित्र— बनाने में मग्न था, फिर प्रकृति के दृश्य अच्छे लगते तो कैसे? मोटर की सीट के पास पड़े हुए कनस्तर से

पेट्रोल के छींटे उड़ कर पतलून पर गिरते रहे और मार्ग की मिट्टी से वहाँ धब्बे बन गये; किन्तु मुझे इस बात का ध्यान तक न आया। सब बैठा रहा। कल रात तुम्हारे पास था, मुहब्बत के लालित्य-पूर्ण उद्यान की सैर कर रहा था। आज तुम से कोसों दूर हूँ, मानो मरुभूमि में खो गया हूँ। जहाँ मुहब्बत की बू तक नहीं, जहाँ ज़मीन आग उगलती है।

सकते में हूँ दोरंगिए-लैलो-निहार देखकर,
चौंका हूँ ख़्वाब से अभी महफ़ले यार देखकर।

तुम्हारा—
'मदन'

पुरानी अनारकली,
लाहौर।

मेरी शकुन्तला,

तुम्हारे बिना जीवन निरर्थक प्रतीत हो रहा है। अब इस शुष्क और नीरस नगर को तिलांजलि ही देनी पड़ेगी। अभी-अभी तुम्हारा पत्र पढ़ रहा था। मानों प्रेम की धारा में बहा जा रहा था। स्वर्ग में नदी के किनारे बैठा प्रेम के गीत सुन रहा था। अब पत्र समाप्त कर चुका हूँ। मुहब्बत का गीत भी ख़त्म हो गया है। किन्तु इसकी गूंज अभी तक कानो में झंकृत हो रही है, हृदय में दूर तक चुभी चली जा रही है।

विश्वास नहीं होता कि वे आठ दिन और आठ रातें मैंने तुम्हारे साथ व्यतीत की थीं और उस आख़िरी रात—जो मेरे इस नीरस जीवन की एक मात्र सुन्दर, मादक और लालित्य-पूर्ण रात है—मैं तुम्हारे पास था। वह रात, जिसमें प्रेम के ख़ामोश तराने खिड़कियों से आने वाली वायु में मिल कर आकाश की ओर उड़ जाते थे; जिस में मेरा हृदय उल्लास के समुद्र की तह तक पहुँच गया था, मैंने तुम्हरे साथ व्यतीत की थी। विश्वास हो, चाहे न हो, किन्तु स्मृति बता रही है कि

उस रात मैं तुम्हारे पास था, प्रसन्नता के शिखर पर जा चढ़ा था। आनन्द की चरम सीमा पर पहुँच गया था !

मैंने कहा था—'शकुन्त !' तुमने मुस्कराकर धीमे स्वर से उत्तर दिया था—'जी !' मेरे समस्त शरीर में सनसनी दौड़ गयी थी। इन दो शब्दों में कितना आकर्षण, कितनी मोहनी छिपी हुई है, कह नहीं सकता। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि इस समय भी, जब वायु अपने अट्टहास से मकानों की नींवें तक हिला रही है, जब बादल गड़-गड़ करके गरज रहा है, जब आँधी के तीक्ष्ण और तेज़ झोंकों से बिजली की लाइन ख़राब हो गयी है, मकानों के किवाड़ खड़खड़ा रहे हैं और चारों ओर एक कोलाहल-सा मचा हुआ है, मेरे कानों में कोई धीमे स्वर से 'जी' कह रहा है। जीवन में आनन्द की एक लहर दौड़ जाती है, हृदय के अन्धकार में एक प्रकाशवान किरण चमक उठती है और मन का तिमिरपूर्ण मदिर उस स्वर्गीय ज्योति से जगमगा उठता है।

मैंने कहा था—शकुन्त ! इस रात के पश्चात् दिन न हो। यह रात एक लम्बी—बहुत लम्बी—प्रलय-पर्यन्त लम्बी रात में परिणत हो जाये ! और हम दोनों इस कमरे की छत के नीचे, एक दूसरे में लीन होकर प्रेम के राग अलापते रहें, प्रीति के गाते गाते रहें, कामनाओं—पूरी न होने वाली कामनाओं, आशाओं—सत्य न होने वाली स्वप्न-जगत् की आशाओं के गढ़ बनाते रहे और एक-दूसरे में खो कर रह जायें। या फिर इस के पश्चात् मैं न रहूँ। आनन्दातिरेक के पश्चात् दु:खातिरेक नहीं सहा जाता। दुखी हृदय से विरह की अग्नि मे नहीं जला जाता। तुम उदास हो गयी थीं और मैं हँस दिया था। और फिर तुम हँस दी थीं और मैं उदास होगया था। फिर तुम ने मध्यम सुर में अपने गीतों से मुझे बहलाने का प्रयत्न किया था। वह गीत अब भी मेरे कानों में गूंज रहे हैं। सुख के कुछ पल—कुछ बहुमूल्य पल—बीत गये हैं और दुःख की लम्बी—न समाप्त होने वाली—घड़ियाँ आरम्भ हो गयी हैं।

मैं लैम्प के धुँधले प्रकाश में पत्र लिख रहा हूँ। बिजली की कट अभी तक नहीं आयी। लैम्प का तेल समाप्त हो चुका है। मैं एक तरह अँधेरे में ही पत्र लिख रहा हूँ। शुष्क वत्ती जल रही है और जला हुआ गुल चमक रहा है। अब और नहीं लिखा जाता।

तुम्हारा—'मदन'

पुरानी अनारकली,
लाहौर।

मेरी शकुन्तला,

तुम शिकायत करती हो, मैं तुम्हें भूल गया हूँ। पागल! यह क्या लिख दिया तुमने? क्या दुनिया रहते ऐसा हो सकता है? तुम्हारा चाँद-सा सुन्दर मुखड़ा, तुम्हारी मद-भरी आँखें, फूल की पँखुड़ियों से मुसकराते हुए ओठ भुलाये जा सकते हैं कहीं? वह मुखड़ा, जिसे मैंने दिल के अज्ञात पर्दों के अन्दर छिपा रखा है; वे आँखें, जिनसे मैंने मस्ती का एक घूंट भर कर बेसुध होने का प्रयास किया है; वे ओठ जिन मे तनिक-सी मुस्कराहट छीनने के लिए मैं बेचैन रहा हूँ, कहीं भुलाये जा सकते हैं? एक ही महीने में शकुन्तला, तुमने मुझ पर यह दोष लगा दिया। यह न पूछा कि मैं किन कठिनाइयों में घिरा हुआ हूँ। तुम्हें क्या मालूम कि हर समय तुम्हारा चित्र सामने रखने वाला मदन इस समय किन मुसीबतों में घिरा हुआ है? शकुन्त, एक तो पत्रकार का जीवन ही स्वयं एक विपत्ति है, फिर उस-पर तुम्हारी जुदाई! इतना ही नहीं, बल्कि इन दो मुसीबतों के साथ बीमारी का दुःख भी कुछ कम नहीं। ज्वर की तीव्रता ने तुम्हारे मदन को अपनी छाया बना दिया है।

मैंने तो प्रायः निश्चय कर लिया है कि इन दैनिक पत्रों के झंझट से छुटकारा पालूँगा और इन को छोड़ कर तुम्हारे पास आ रहूँगा। दिन

को एक बजे से छः बजे तक, रात को नौ से दो बजे तक सिर-खपाई! मुझ से अब यह कर्तव्य न निभाया जायगा। मैं इसे छोड़ दूंगा। काम की ज़्यादती ने मुझे अधमरा कर दिया है और सच पूछो तो मुझ में जान ही कहाँ थी? मैं तो जब से जालन्धर से आया हूँ, जीवन को वहीं छोड़ आया हूँ। यहाँ तो न जाने कैसे चल फिर रहा हूँ। दिल और दिमाग़ तो तुम्हारे पास रहते हैं शकुन्त! हाँ, शरीर अवश्य चलता-फिरता नज़र आता है।

मेरे मित्र मुझ पर हँसते हैं। वे व्यंग्य के तीर छोड़ कर मेरा उपहास करते हैं; किन्तु वे क्या जानें दिल की लगी किसे कहते हैं? इस का अनुभव तो कुछ वही लोग कर सकते हैं, जो दिल रखते हैं। मेरे मित्र हृदय-हीन हैं। वे पत्रों की दुनिया में रहने वाले कुएँ के मेंढ़क हैं, जिन का विवाह हुए एक समय बीत चुका है और जो घटनाओं और समाचारों के उलट-फेर में पड़ कर सच्चे और स्वर्गीय आनन्द को भूल चुके हैं। मैं इस पवित्र-प्रेम को, इस असीम-आनन्द को भूल जाऊँ, यह मेरी शक्ति से बाहर है। यह मेरा जीवन है, जीवन का आधार इसी पर है। इस के बिना तो मेरी काया भी काम करने से जवाब दे देगी। मैं तो तुम्हारी मुहब्बत का अभिलाषी हूँ, तुम्हारी प्रेम-भरी दो सरल बातों का भिखारी हूँ, पत्रकारों का यह शुष्क जीवन मुझे नहीं चाहिए। शीघ्र ही इस से छुटकारा पा लूंगा।

तुम्हारा—'मदन'

पुरानी अनारकली,
लाहौर।

शकुन्तला,

क्रम से तुम्हारे कई पत्र मिले। मेरी बेबसी समय पर उत्तर न दे सकी। सच जानो, मेरा रत्ती भर भी दोष नहीं। ज़ालिम बुख़ार ने सुध

ही नहीं लेने दी। अब तो कुछ दिन आराम करूँगा।

तुम आग्रह करती हो कि मैं तुम्हें सेवा का अवसर नहीं देता। तुम आने के लिए ज़िद कर रही हो; किन्तु तुम्हीं सोचो, मैं तुम्हें सुख और आराम पहुँचाने के बदले उलटा दुःख में कैसे डाल दूं? लाहौर में बेहद गर्मी पड़ रही है, हर वस्तु भुनी जा रही है। तुम ने पत्रों में 'हीट स्ट्रोक' और 'सन स्ट्रोक' के समाचार पढ़े होंगे। ऐसी हालत में तुम्हें लाहौर आने के लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। शीघ्र ही स्वस्थ हो जाऊँगा। ज़रा गर्मी का ज़ोर कम हो तो तुम्हें बुला लूँगा। मेरे हृदय में जो अग्नि प्रज्वलित है, बाहर की आग के साथ वह भी शान्त हो जायगी।

तुम्हारा—'मदन'

जालन्धर के एक सुन्दर छोटे-से कमरे में शकुन्तला बैठी थी। उस के सामने उस के स्वामी के पत्र पड़े थे और उस की आँखों से अश्रुधारा बह रही थी।

उस का विवाह लाहौर के प्रसिद्ध पत्रकार मदन मोहन से हुआ था। विवाह के पश्चात् केवल आठ-दस दिन उस ने अपने पति के साथ व्यतीत किये थे। यही आठ-दस दिन थे, जिन में उसे सुहाग का आनन्द प्राप्त हुआ था। इन की सुस्मृति रह-रह कर उस के हृदय में काँटे चुभो रही थी। उस के पति का सुन्दर और सुगठित चित्र उस के सामने नाच रहा था। वह सोचती वे बीमार होंगे। बुख़ार ने उन्हें अधमरा कर दिया होगा। उसे अपने आप पर गुस्सा आ रहा था। कई दिन से उस के हृदय में द्वन्द्व जारी था—वह लाहौर चली जाये, अपने पति की सेवा-सुश्रूषा करे। उन में डाक्टर के यहाँ तक जाने की हिम्मत न होगी, नौकर उन्हें ध्यान से दवाई न पिलाता होगा। वह चली जायेगी, तो यह सब कुछ भली-भाँति हो जायेगा। आख़िर स्त्री का कर्तव्य भी क्या है?

शकुन्तला सोचती—जब मैं ही उन के काम न आयी, तो मेरा होना न-होना एक बराबर है। उन्हों ने मुझे गर्मी के कारण लाहौर आने से रोका है। क्या यहाँ गर्मी नहीं पड़ती ? यहाँ आग नहीं बरसती ? लाहौर की गर्मी मुझे खा न जायेगी, जला न डालेगी। मेरी और सहेलियाँ भी तो लाहौर में रहती हैं। उन्हें क्या गर्मी खाये जाती है ? शीला ने मुझे वहाँ पहुँच जाने, अचानक वहाँ पहुँच जाने की सम्मति दी है। फिर क्यों न उसी की सलाह पर चलूँ। मुझे देखकर हैरान हो जायेंगे, और फिर कितनी खुशी होगी उन्हें !

और आज के अन्तिम पत्र को देख कर उस के धैर्य का बाँध टूट गया था। उस ने निश्चय कर लिया था, मैं अपने प्रिय के पास अवश्य ही चली जाऊँगी। इस से अधिक वह कुछ न सोच सकी थी।

बाहर सन्ध्या का अँधेरा प्रतिक्षण बढ़ रहा था। दूर—बहुत दूर—गाड़ी के इर्द-गिर्द घूमने वाले वृक्षों का घेरा आँखों से ओझल हो चुका था। गर्म वायु के झोंके खिड़कियों के रास्ते ज़नाने डिब्बे में प्रवेश कर रहे थे। सरल हृदय स्त्रियाँ एक दूसरी से अपने सुख-दुःख की कहानी कह रही थीं। दो बूढ़ी स्त्रियों में किसी साधारण-सी बात पर झगड़ा हो गया था। कमरे में एक विचित्र कोलाहल मचा हुआ था।

शकुन्तला उसी डिब्बे के एक कोने में गर्दन झुकाये बैठी थी। वह अपने पति को देखने के लिए लाहौर जा रही थी, और इस कुहराम की दुनिया से दूर किसी और ही संसार की सैर कर रही थी, जहाँ कोलाहल न था और न थी भीड़, केवल वह थी और उस का प्रिय रोगी पति।

लाहौर आ गया। वह उतर पड़ी। उस के पास कोई सामान न था। स्टेशन पर कोई भीड़ न थी। बैग को दायें हाथ में थामे हुए उस ने टिकट कलेक्टर को टिकट दिया। पुल को पार करके ताँगे के अड्डे पर आयी और एक ताँगे में बैठ गयी।

'कहां चलेंगी बहिन जी ?'

'पुरानी अनार कली ।'

तांगा चल दिया । वह अपने विचारों की गहराइयों में गुम हो गयी । उस की जेब मे उस के पति के पत्र पड़े थे, और उन का एक-एक अक्षर उस की आँखों के सामने घूम रहा था ।

बाईबिल सोसाइटी के सामने ताँगा रुका । वह उतरी । सामने गली में पहला मकान उस के पति का था । उस ने इतमीनान करने के लिए लेटरबक्स पर निगाह डाली और धीरे-धीरे सीढ़ियाँ चढ़ने लगी । आनन्द और उल्लास से उस का हृदय काँप रहा था । वह किवाड़ खटखटायेगी और जब वे दरवाजा खोलेंगे, तो उसे देख कर अवाक् रह जायेंगे । वह हँस देगी—ठहाका मार कर हँस देगी ! सीढ़ियाँ खत्म हो गयीं । किवाड़ की दरार से प्रकाश की एक लकीर सामने की दीवार पर पड़ रही थी । उस के कानों में उस के पति की आवाज़ आयी । उसने दरार से देखा । वह काँप उठी । उस का पति बड़े कौच पर एक सुन्दर युवती को बगल में लिये बैठा था । सामने बिजली का पंखा पूरी रफ़्तार से चल रहा था । उस ने युवती की ठोढ़ी को ऊपर उठाया हुआ था और उस की आँखों में आँखें डाल रखी थीं ।

शकुन्तला ने सुना, वह कह रहा था—"तुम्हें भूल सकता हूँ लीला ? तुम्हारा चाँद-सा सुन्दर मुखड़ा, तुम्हारी मद-भरी आँखें, फूल की पँखड़ियों से मुस्कुराते तुम्हारे ओठ भुलाये जा सकते हैं कहीं ?"

सब वही शब्द थे, जो उस ने एक महीना पहले शकुन्तला की स्तुति में लिखे थे । वह धीरे-धीरे सीढ़ियां उतर आयी । ताँगा चला गया था । वह स्टेशन की ओर चल दी—निस्पंद, मूक, निष्प्राण !

निशानियाँ

मैंने रूमाल उठा लिया और इधर-उधर देख कर तुरन्त अपने कमरे में भाग आया। क्षण भर पहले सरला दरवाजे के सामने से हो कर गयी थी। सौरभ, मद और संगीत की त्रिवेणी बहा गयी थी। वह रूमाल उसी का था। जल्दी में गिर गया था। मैंने उसे एक बार हवा में लहराया, एक कोने में सुन्दर फूल था और उस पर लिखा हुआ था—'सरला'। प्यार के उन्माद में मैंने उसे चूम लिया। बाहर किसी के पैरों की आहट सुनाई दी। मैंने एक दम रूमाल को कोट की भीतरी जेब में रख लिया। मेरा हृदय धक् धक् करने लगा। किसी नौजवान सुन्दर कुमारी का रूमाल उठा लेना, और फिर उसे चूम लेना। यदि जमना देख ले तो कैसा हो? प्रलय आ जाये। वह आँखों को मूर्तिमान् प्रश्न बना कर मुझ से इस की कैफ़ियत पूछे और मैं मौनावतार बन कर रह जाऊँ। फिर उस की आँखों में आँसू हों और मेरी आँखों में लज्जा, ग्लानि!

जानता हूँ यह पाप है। प्रेम करने वाली पतिव्रता स्त्री के होते

हुए, ऐसा करना पाप है। बार-बार सोचता हूँ, बार-बार प्रतिज्ञा करता हूँ, अब आँख उठा कर भी उधर न देखूँगा। उस की सुरीली आवाज़ सुनते ही खुली किताब रख कर सारे शरीर को कान बना कर कमरे में न बैठा रहा करूँगा; उस के प्रत्येक आग्रह को पूरा करने के लिए लालायित न फिरूँगा; किन्तु एक झलक, एक आवाज़, एक मुस्कराहट, मेरे सारे इरादों पर पानी फेर देती है। मेरी प्रतिज्ञाएँ हवा हो जाती हैं, पानी का बुलबुला बन जाती हैं और मैं बन जाता हूँ शिकारी—छिप कर शिकार की प्रतीक्षा करने वाला—कान लगा कर उस की ध्वनि सुनने वाला—दाने के पर्दे में जाल बिछाने वाला। आदम, इस बात को जानते हुए भी कि फल को चखने की मनाही है, उस के रसस्वादन की लालसा को न रोक सका था—उस ने चख ही लिया था। मैं भी प्रायः ऐसे ही प्रयास में संलग्न था। उस का परिणाम भयानक था, मेरा राम जाने।

कुछ क्षण नहीं, इस से भी कम समय में यह सब बातें मेरे मस्तिष्क में पैदा हुई और मिट गयीं; किन्तु रूमाल मेरे जेब में रहा, दिल धड़कता रहा और शरीर एक अनिर्वचनीय आनन्द अनुभव करता रहा।

पैरों की चाप निकटतर होती गयी। मैंने रूमाल को भली-भाँति जेब में ठोंस लिया और आने वाले के साथ ही जैसे सौरभ और संगीत वापस लौट आये। कमरे में ज्योति सी चमक उठी। हृदय की धड़कन तेज़ हो गयी और मुख भी कुछ फीका-सा पड़ गया। सरला का मधुर स्वर—'मेरा रूमाल तो नहीं देखा ?'

मैंने सिर हिला दिया, उत्तर देने का साहस ही न हुआ।

वह मुस्कुरा कर चली गयी। मैंने फिर रूमाल निकाल लिया और उसे अपने दोनों हाथों पर फैला कर चेहरे को ढाँप लिया। शरीर में एक शीतल लहर दौड़ गयी और हृदय इस 'डबल गुनाह' पर ठहाका मार कर हँस पड़ा।

'यह मुँह ढाँपे क्या कर रहे हो ?

मैं चौंक पड़ा, देखा, जमना, मेरी पत्नी, हैरान-सी खड़ी मेरी ओर देख रही है। मैंने रूमाल फिर जल्दी से जेब में ठूंस लिया। चेहरा शायद पहले से भी श्वेत हो गया। अपनी खिन्नता को छिपाने के लिए मैंने जल्दी से पूछा—'डाकिया आया था ? '

"मालूम नहीं, परन्तु......"

"मुझे एक-दो आवश्यक पत्रों की प्रतीक्षा थी"—यह कहता और जमना के गाल पर हल्की-सी चपत लगाता हुआ मैं नीचे बैठक में चला गया और किताब बन्द करके आराम कुर्सी पर लेट गया। कुछ क्षण इसी तरह पड़ा रहा। फिर मैंने वह रूमाल निकाला, इधर-उधर देखा—कहाँ छिपाऊँ, कहाँ रखूँ—उस की निशानी है, उस ने आप न दिया हो, पर है तो उस की ही, फिर क्या इसे देखते ही उस की याद ताज़ा न हो जायेगी, कल्पना उसे स्वयं लाकर मेरे सामने खड़ा न कर देगी ? ऐसी बहुमूल्य चीज क्यों लौटाता ? उठा, अल्मारी में संगमरमर की नन्हीं-सी सुन्दर डिबिया रखी थी। लाहौर-कॉंग्रेस में जो प्रदर्शनी हुई थी, वहीं से ख़रीद लाया था। उस पर अत्यन्त लालित्यपूर्ण, आँखों में खुब जाने वाली चित्रकारी की हुई थी। मैंने रूमाल को तह किया। एक चिट पर लिखा—'सरला की निशानी' और नीचे अपना नाम लिख कर उसे रूमाल के साथ एक खूबसूरत पिन से टाँक दिया।

दूसरे क्षण रूमाल डिबिया में बन्द मेरे सामने मेज़ पर था। उस का, सरला का रूमाल, कोई सारे संसार का ऐश्वर्य, सारी दुनिया की सम्पत्ति मेरे हाथ पर रख देता और इसे मुझ से माँगता, तो मैं न देता। सच कहता हूँ, कभी यह सौदा न करता।

सरला जमना के पास रोज आती थी। क्यों आती थी, और यदि आती थी, तो घण्टों क्यों बैठी रहती थी ? यह सब कुछ मुझे नहीं मालूम। हाँ, अपने विषय में कह सकता हूँ, वह जब तक वहाँ बैठी रहती, मैं और कोई काम न कर सकता। आँखें किताब में गाड़े पास के

कमरे में बैठा, उस की मीठी-मीठी मधुर बातें सुनने में मग्न रहता। और फिर जैसे उस के आने के सम्बन्ध में मुझे कोई ज्ञान ही न हो, अचानक उस कमरे में चला जाता और कुछ कहे बिना मेज़ पर पड़े हुए काग़ज़ों को उलट-पलट, दराज़ों को एक-दो बार खोल और बन्द करके चला आता। उस की ओर दृष्टि भर कर देखने का साहस ही न होता। हर बार उसे देखने के लिए जाता, किन्तु क्या मजाल, जो निगाह ऊपर उठ जाये। जमना के कारण झिझक जाता? न, यह बात न थी। जब जमना वहाँ न होती, तब भी यह साहस न होता।

सरला के पिता क्लर्क थे। हमारे कमरे से सटे हुए दो कमरे उन के पास थे। लाहौर में अच्छे मकान मिलना कठिन है और निर्धन के लिए तो लगभग असम्भव है। यदि यहाँ के किरायेदारों की दशा का चित्र खींचा जाये, तो ऐसी सनसनी पैदा करने वाली घटनाएँ प्रकाश में आयें, जिन से शरीर के रोंगटे खड़े हो जायें। फिर इस ग़रीबी की अवस्था में एक ही मकान में कई परिवारों के एक साथ रहने के कारण प्रेम और प्यार के जो सफल और असफल खेल अनायास ही खेले जाते हैं, उन्हें लिखें, तो दफ़्तर-के-दफ़्तर स्याह हो जायें। सरला के पिता निपट निर्धन हों, यह बात न थी। डेढ़ सौ रुपया मासिक वेतन पाते थे। किन्तु लाहौर के डेढ़ सौ किस गिनती में? यहाँ चार-चार सो पाने वाले भी असंतोष की गाड़ी के बैल बने हुए हैं। ख़र्च बढ़ा हुआ था, आय उतनी थी नहीं, फिर कैसे तीस-चालीस का मकान ले सकते थे? फलतः पन्द्रह रुपयों में दो कमरे उन्हों ने ले रखे थे और बीस में तीन मेरे पास थे, रसोई के कमरे अलग-अलग थे। मेरे पास एक बैठक भी थी और वहाँ मैंने अपना कार्यालय बना रखा था। उस का एक दरवाज़ा ड्योढ़ी में था और एक मुहल्ले की ओर। उसी में बैठ कर मैं सरला के आने की बाट जोहा करता था।

वह प्रतिदिन सुबह ऊपर से जल्दी जल्दी उतरती और स्कूल चली जाती। शाम को स्कूल से आती और जल्दी-जल्दी उपर चली जाती। मैं आँख उठा कर भी न देख सकता। कभी वह मेरे कमरे के सामने मुहल्ले में सहेलियों से ऊँचे-ऊँचे स्वर मे बात-चीत आरम्भ कर देती। मुझे अनुभव होता, जैसे वह मेरी ओर देखती भी है, मानो मुझे सुना-सुना कर बातें कर रही है, किन्तु फिर भी आँखें ऊपर न उठतीं। कभी-कभी पाठशाला से आते समय सहेलियों से जुदा होने से पहले, वह अपने मकान के सामने बहुत देर तक खड़ी बातें करती रहती। उस समय मैं भी खिड़की में से उसे देख लेने का साहस करता। किन्तु जब उस की निगाहें मेरी ओर उठतीं, मेरी आँखें झुक जातीं।

उस दिन संध्या का समय था। वह पाठशाला से आयी और एकदम सहेलियों से विदा होकर खट-खट-खट सीढ़ियाँ चढ़ गयी। मैं कुछ क्षण मंत्र-मुग्ध-सा बैठा रहा, फिर लम्बी सांस लेकर उठा, उस के पैरों की चाप फिर सुनायी दी, फिर बैठ गया। वह सीढियां उतर कर रुक गयी। चाप के अचानक बन्द हो जाने से मैंने जान लिया, वह कुछ सोच रही है, अथवा कोई वस्तु ऊपर भूल जाने से उसे फिर लाने का इरादा कर रही है।

दूसरे क्षण एक नर्म, नाज़ुक, गोरे हाथ ने मेरे कमरे की चिक को उठाया और सरला के सुन्दर चेहरे ने अन्दर झाँक कर देखा।

"मैं आ सकती हूँ ?"

मैंने सिर से इशारा कर दिया, ओठ हिलाने का साहस न हुआ। उस के सामने मेरी जिह्वा मूक हो जाती थी। वह आयी उस के हाथ में एक खुली हुई किताब थी।

"ज़रा यह प्रश्न तो समझा दीजिए।"

मैंने कम्पित हाथों से किताब ले ली। मालूम होता था, मेरा मुख लाल हो गया है। मैंने प्रश्न उसे समझाना शुरू कर दिया। वह मेज़ के दायें कोने पर हाथ रखे खड़ी रही। मैं उसे बैठने के लिए भी न कह

सका। सवाल समझाता गया और कभी-कभी उस के गोरे हाथों और मेंहदी से रँगे हुए नाखूनों को देखता रहा।

मुझे गणित में विशेष रुचि है; यद्यपि कॉलेज को छोड़े कई वर्ष बीत गये हैं, तो भी कठिन-से-कठिन प्रश्न मैं हल कर सकता हूँ। बीजगणित और अंकगणित मेरी अँगुलियों पर हैं। मैंने प्रश्न उसे भली-भाँति समझा दिया।

"धन्यवाद !"

वह कुछ और कहे बिना चली गयी और मुझे ऐसा लगा, मानो वह शब्द मेरी श्रवण-शक्ति पर छाकर रह गया।

दिन सप्ताह बने, सप्ताह महीने और महीने वर्ष ! किन्तु मेरा प्रेम उसी अवस्था में स्थिर रहा, अचल रहा। यह चिनगारी आग न बनी, ज्वाला न बनी। प्रति क्षण सुलगने वाली चिनगारी की भाँति मेरे हृदय को जलाती रही। इस के बाद बीसियों बार सरला मुझ से प्रश्न समझने आयी। उस ने परीक्षाएँ पास कर लीं। उस की सगाई भी हो गयी, किन्तु मैं अपने हृदय के सुलगते हुए भाव न प्रकट कर सका। मेरी चाल की लड़खड़ाहट, मेरी आँखों की बेचैनी, मेरी आवाज़ के कम्पन, मेरे चेहरे के परिवर्तनों से शायद उस ने मेरे हृदय की अवस्था का अन्दाज़ लगा लिया हो, किन्तु जिह्वा ने इन मूक संकेतों का साथ न दिया—ओठों से कभी मनोभिलाषा प्रकट न हुई।

उन दिनों जब कभी चित्त उचाट होता, कमरे को बन्द कर लेता, डिबिया खोलता, रूमाल को सामने रख कर उस से बातें करता। जब घरेलू आवश्यकताएँ मेरी निमग्नता का जादू तोड़ देतीं, तो फिर रूमाल को धीरे से, मुहब्बत से तह करके, चिट को उसी प्रकार टाँक कर डिबिया में बन्द कर देता। मनुष्य और उस की निमग्नता—भूले-बिसरे दिनों की साधारण-सी घटना; कुछ क्षणों के लिए मिलने वाले की संक्षिप्त

सी स्मृति; किसी की याद को ताज़ा कर देने वाली कोई अकिंचन-सी चीज उसे तन्मयता के संसार में गुम कर देने के लिए काफ़ी है।

कभी-कभी जमना मुझ से इस प्रकार बदहवास रहने का कारण पूछती। मैं मौन रह जाता। उत्तर देने के लिए मेरे पास था ही क्या? यदि कुछ बहाना भी बनाता, तो इस से उस की तसल्ली न होती और न मेरे मन को चैन मिलता। ज्यों-ज्यों सरला के विवाह की तारीख़ समीप आती, मेरी बेचैनी बढ़ती जाती, मेरी बैठक की खिड़कियाँ अधिक देर तक बन्द रहतीं, सगमरमर की डिबिया ज़्यादा बाहर निकलती और रूमाल से ज़्यादा बातें होतीं। यहाँ तक कि जब सरला के विवाह के दिन बिल्कुल निकट आ गये तो मैंने प्रति दिन अपने कमरे में बैठ कर अपनी भाग्य-हीनता पर अश्रुपात करना अपना नित्य का नियम बना लिया।

मेरी बैठक के सामने मुहल्ले का खुला चौक था। यहीं बारात को रोटी खिलाने का प्रबन्ध किया जा रहा था। एक शामियाना लगाया गया था, बिरादरी के बैठने के लिए दरी बिछ गयी थी और पाँच छः हुक्के भी मुहल्ले मे इकट्ठे करके रख दिये गये थे। सुबह-शाम बिरादरी वालों की बैठक होती, मुहल्ले के चौधरी साहब से परामर्श होता और बाक़ी सारा दिन यहाँ मुहल्ले के लड़कों की धमाचौकड़ी मचती। इस कोलाहल में भी मैं मौन, स्थिर, अविचल भाव से अपने कमरे में बैठा सोचा करता। सोचा करता—यदि जमना मेरी पत्नी न होती, यदि मैं अविवाहित होता तो क्या मैं सरला से विवाह न कर लेता? अवश्य कर लेता। वह जीवन कितना आनन्दमय होता! कल्पना उस उल्लास-जनक ज़िन्दगी के बीसों दृश्य मेरे सामने ला खड़े करती।

इसी भाँति कल्पना के इस सुनहले संसार की सैर करते करते बहुत देर हो जाती और जब मैं उठता, तो शरीर थका हुआ, चेहरा उतरा हुआ और हृदय क्लांत प्रतीत होता।

जमना को इन दिनों मेरी हालत देखने का अवकाश न था।

वह अपने प्रश्नों से मुझे परेशान न करती थी और मैं शांत, अकंटक उस दुनिया की सैर किया करता। सोचता, थक जाता, और फिर सोचता—क्या हुआ, यदि सरला जा रही है। क्या हुआ, यदि मैं उस पर अपना प्रेम प्रकट न कर सका। क्या हुआ, यदि उसकी सूरत तक देखने को न मिलेगी; पर उस की प्यारी निशानी—उसका रेशमी रूमाल तो मेरे पास है, उसे देख कर जी सकता हूँ। सच कहता हूँ—प्रलय पर्यन्त जी सकता हूँ!

अन्तिम दिन था। सरला की बिदाई होने वाली थी। स्त्रियाँ दाम-दहेज की तैयारियों में व्यस्त थीं। जमना को अपनी सुध बुध न थी। पर मैं अपने कमरे में बैठा था, किवाड़ बन्द करके नहीं; बल्कि सब खोल कर। आज मैं अन्तिम बार उस को जाते देखना चाहता था। कौन जाने फिर इस के बाद वह सुन्दर, प्यारा, मनोमुग्धकारी मुख देखना नसीब भी हो या नहीं!

मैं बैठा था, एक टक, उस डिबिया को देख रहा था। कुछ सोच रहा था। क्या सोच रहा था, नहीं जानता। मस्तिष्क कुछ थका हुआ-सा था और आँखें जल-सी रही थीं।

सरला की बिदाई में कोई एक-डेढ़ घन्टा रह गया होगा कि किसी ने धीरे से मेरे कमरे की चिक उठाई। देखा, सरला सामने खड़ी है—सुन्दरता, सुषमा, आकर्षण, लालित्य, हर्ष, और उल्लास की जीवित मूर्ति!

"मैं आपसे कोई निशानी माँगने आयी हूँ।" उस की चंचल आँखों ने कमरे की तलाशी-सी ले ली।

मैंने दीर्घ निःश्वास छोड़ा। क्या निशानी देता! जो कुछ मेरा था वह तो पहले ही दे चुका था। बोला—क्या दूँ तुम्हें? मेरे पास तुम्हारे योग्य कुछ हो भी!

"कुछ क्यों नहीं, सब कुछ है।" उस की चंचल दृष्टि फिर इधर-उधर घूमी और फिर मेज़ पर पड़ी हुई संगमरमर की डिबिया

पर जम गयी।

"बस मैं यह लूंगी।"

मैंने उसे रोकने के लिए हाथ बढ़ाया—न, न, करता रहा।

"मैं इसे आप की निशानी के तौर पर अपने पास रखूंगी।"
और यह कहते हुए डिबिया को सीने से लगाये वह भाग गयी।
मैं कुर्सी में धँस गया।

वह सीढ़ियों पर खट-खट-खट चढ़ी जा रही थी और मैं जैसे पाताल में धँसा जा रहा था।

ज़ुदाई की शाम का गीत

"रामानन्द जानते हो ?"—मेरे साथी ने मेरे बाज़ू को छूते हुए धीरे से कहा—पहाड़ी के इस टुकड़े से किस कथा का सम्बन्ध है ?"

मैंने पीछे की ओर देखा। पुल के साथ पगडण्डी का एक भाग खड्ड की ओर बढ़ गया था और उस पर एक युवक और युवती बैठे थे।

हम जिस जगह जा रहे थे, उसके दायीं ओर सुरम्य घाटी थी और उसके परे छोटी-सी सुन्दर पहाड़ी, जिससे सूर्य की किरणें गले मिल-मिल कर बिदा ले रही थीं। बायीं ओर भयानक पहाड़ खड़ा था, जिस पर निरन्तर वर्षा के कारण काई-सी जम गयी थी और इन दोनों के मध्य एक सिकुड़ी सिमटी पगडण्डी पर हम हाथ में हाथ दिये चले जा रहे थे। पश्चिम में सूर्य अस्त हो रहा था, पूर्व में सन्ध्या इठलाती हुई चली आ रही थी और दायीं ओर पहाड़ी के निचले भाग को उसने अपने अञ्चल में छिपा लिया था। वृक्षों के सिरों पर धूप का राज्य था, उनके पैरों पर छाया का पहरा और अन्धकार प्रकाश को जैसे बरबस

धकेल कर बाहर निकाल रहा था, किन्तु शायद वह अन्तिम समय तक अपना शासन छोड़ने को तैयार न था।

मैंने चारों ओर देखा। हम बातों में मग्न पुल को पार कर आये थे। बायीं ओर भयानक पर्वत का सिलसिला पहाड़ी नाले के कारण मध्य ही में टूट गया था और इसके आगे एक गहरा—अत्यन्त गहरा और डरावना खड्ड था।

यदि मार्ग के उस बढ़े हुए टुकड़े पर खड़े होकर नीचे की ओर दृष्टि डाली जाये तो भय से प्राणों में कँपकँपी पैदा हो जाये। किन्तु वह युवक और युवती इस प्रकार बातों में मग्न थे, मानों सृष्टि के आदि-काल से इसी प्रकार बैठे बातें कर रहे हों और प्रलय-पर्यन्त अपनी बातों में मग्न रहेंगे। मार्ग का यह टुकड़ा जिसे चट्टान कहा जाये तो अनुचित न होगा, मार्ग से कुछ ऊँचा था। उस पर खड़े होकर प्रकृति के अद्भुत शिल्प का भली-भाँति दर्शन किया जा सकता था—एक ओर भयानक पर्वत, दूसरी ओर सुन्दर घाटी, उस के पार सुगढ़ पहाड़ी, सिर पर नीला अम्बर, पैरों के नीचे मीलों लम्बा गहरा खड्ड और उस से नीचे—बहुत नीचे पानी की एक झिलमिलाती हुई रेखा।

मेरे साथी ने फिर वही प्रश्न दुहराया। मैं कल्पना लोक से वास्तविक संसार में आ गया। मैंने उत्तर दिया—"मुझे मालूम नहीं।"

अब सूर्य अस्त हो गया था। सन्ध्या ने सब ओर पूरी तरह अपना आधिपत्य जमा लिया था। पहाड़ी पक्षी उसके काले पाश से बचने के लिए अपने निवास-स्थानों में जा छिपे थे। हम भी वहीं पगडण्डी के किनारे बैठ गये। सन्यासियों का कौन ठिकाना! जहाँ रात हो गयी वहीं चादर बिछा कर लेट रहे। फिर उन सन्यासियों की तो बात ही न पूछो जिन पर यात्रा का भूत सवार हो। मेरे साथी का नाम था भूमानन्द, उसने दायें हाथ को अपने घुटने पर रख, बायें हाथ से मेरे कन्धे का सहारा लेकर कहना आरम्भ किया।

"दस वर्ष हुए..."

एक बार खांस कर वह फिर बोला, "यह उस समय की बात है जब पहली बार मैंने माया के जाल को तोड़ कर सन्यास लिया था और नगर को छोड़ कर भ्रमण करते-करते इस गाँव में आ बसा था। यहाँ आकर मेरा जी भी लग गया था। तुम तो जानते हो रामानन्द, बाल्यकाल ही से मुझे प्रकृति का सौंदर्य मुग्ध करता रहा है। उस समय प्रकृति की देवी अपने यौवन पर थी और शायद यही कारण था कि राजरानी जब एक बार अपने बीमार पिता के साथ यहाँ आयी तो फिर लाहौर का मनोरंजन उसे अपनी ओर आकर्षित न कर सका। लाहौर आग था, भक्तिपुर जल। वहाँ उसकी तपी हुई आत्मा को शांति न मिल सकती थी। यहाँ शांति के साथ ही आत्मा की प्यास भी बुझ गयी थी। प्यासी हरिणी अमृत-समान जल के सरोवर पर पहुँच कर वहीं की हो रही थी।

"उस का पिता ज़मींदार था। लाहौर से मीलों दूर यह पहाड़ी गाँव उस की पैत्रिक संपत्ति में शामिल था। राजरानी अपने पिता की एक-मात्र संतान थी। यद्यपि उस की शिक्षा-दीक्षा लाहौर में उत्तम रीति से हुई थी तो भी उस के पिता उसे किसी अच्छे वर के हाथों न सौंप सके थे। इस से पहले कि वे किसी जगह उस की बात पक्की करते, बीमारी ने उन्हें आ घेरा था। अपनी मृत्यु से दो मास पहले वे उसे लेकर इस गाँव के अपने पहाड़ी बँगले में आ गये थे। प्रकृति के मनोहर दृश्य रोगी के मन को शान्ति तो दे सकते हैं, उसे मौत के भयानक पञ्जों से नहीं बचा सकते। और बर्फ से लदी हुई पहाड़ों की सफ़ेद और सुनहरी चोटियाँ, तराई में वृक्षों की हरियाली, खड्ड में पानी की झिलमिलाती हुई रेखा, मेघों और पहाड़ियों का परस्पर आलिङ्गन— भयानक मृत्यु के कठोर दिल को मोम नहीं कर सकते रामानन्द, और राजरानी का पिता यहाँ आकर दीर्घ-काल तक जीवित न रह सका। दो महीने बाद ही उस की जीवन-लीला समाप्त हो गयी।

"राजरानी लाहौर नहीं गयी और न मैं ही कहीं जा सका। वृक्षों की घनी छाया में एक सोफे पर बैठ कर जब वह ऊँचे स्वर से किताब पढ़ा करती थी तब मैं उसे उस कुञ्ज से—भूमानंद ने सामने की पहाड़ी पर एक घने कुञ्ज की ओर संकेत करते हुए कहा—उसे देखा करता। जब वह हारमोनियम के बारीक सुरों के साथ अपना स्वर मिला कर

भगवान मेरी नैया उस पार लगा देना

गाती तब मैं अपने स्थान पर बैठा झूमा करता और मेरे साथ पुष्प, लताएँ और सारे का सारा कुञ्ज इस संगीत के प्रभाव से झूम उठता।

"तुम कहोगे," भूमानन्द ने तनिक रुक कर कहा, "कि सन्यासी होकर, माया के पाश को काट कर भी इतनी ममता, इतना मोह! मैं कहूँगा, हाँ, संयासी होकर ही। यदि मैं संयासी न होता और राजरानी इसी तरह गाती तो मैं उस अद्‌भुत मूर्ति की पूजा न कर सकता, उसे देखकर परमात्मा की कारीगरी पर मुग्ध न हो सकता। मैं उस ओर ही नज़रों से देखता – जिनमें अनुराग न होता, भक्ति न होती, परन्तु होती लालसा, तृष्णा और वासना की झलक।"

"वैसे भी," भूमानन्द ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए कहा— "यह स्थान ही ऐसा है कि यहाँ आकर किसी का जी प्रलय-पर्यन्त जाने को नहीं चाहता। फिर कोई निर्धन हो तो पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए शहरों की ख़ाक छाने। राजरानी के पास सब कुछ था। उसे किस बात की कमी थी? दौलत उस की लौंडी थी। ऐश्वर्य उसका पानी भरता था। फिर वह यहाँ से क्यों जाती? वह अपनी माँ और नौकर-नौकरानियों के साथ पहाड़ी के उस छोटे-से बँगले में निवास करती थी। वहाँ, जहाँ किसी मकान के खँडहर दिखायी दे रहे हैं, उसका बँगला था और वहीं रह कर वह जादूगरनी इस गाँव के रहने वालों पर जादू फूँका करती थी।

"वह लाहौर नहीं गयी। इसका कारण केवल प्राकृतिक दृश्य

ही न थे, कुछ और भी था। उसे माधो ने अपने प्रेम-पाश में जकड़ लिया था।

"माधो कौन था, मुझे कुछ मालूम नहीं, न मुझे यह जानने की आवश्यकता ही पड़ी। कभी ऐसा भी होता है कि दो आदमी एक दूसरे से इतने घुल-मिल जाते हैं कि परिचय पाने की इच्छा ही नहीं होती। प्रायः वे एक दूसरे के नामों से अनभिज्ञ रह जाते हैं। चाँदनी रातों में माधो मुझे अपनी बाँसुरी की मतवाली तान में प्रीति के गीत सुनाया करता था। मुझे उस के गीतों से मतलब था, परिचय से नहीं। मुझे ज्ञात नहीं, वह शिक्षित भी था, या नहीं। हाँ, इतना याद है कि वह अत्यन्त सुन्दर शरीर का पतला-सा युवक था। उस के सिर के बाल लम्बे थे और कंधों पर लहराया करते थे। गले में लम्बा-सा खादी का कुरता, मैली-सी धोती और चप्पल पहने वह कभी पहाड़ की इस चोटी और कभी उस चोटी से अपनी बाँसुरी की मधुर ध्वनि से दूर-दूर की पहाड़ी चोटियों को गुँजाया करता। वह इन पर्वतों का रहने वाला दिखाई न देता था। सुना था कि वह अपने भाई के पास रहता है जो उस के दोषों को जानते हुए भी उस से प्रेम करता है। वह कोई काम न करता था—गीत गाता, बाँसुरी बजाता और पर्वतों की ऊँची-नीची घाटियों में घूमा करता। मैं उस की तानों को सुना करता और कदाचित् राजरानी भी सुना करती, क्योंकि वह पढ़ते-पढ़ते रुक जाती, गाते गाते थम जाती, हारमोनियम बन्द कर देती और उस की बाँसुरी की धुन में खो जाती।

"भोला माधो कभी-कभी स्वर्ग और नरक की बातें जानने के लिए मेरे पास आ जाता। उसे स्वर्ग की बातें सुनने में बड़ा रस मिलता। नरक से वह दूर भागता। मुझ से बड़ी सरलता से पूछा करता—'गुरु जी, वहाँ भी मैं अपनी बाँसुरी बजा सकूँगा, वहाँ भी मैं मित्रों के साथ गीत गा सकूँगा और उसके साथ एक सुन्दर और सुरम्य कुटिया में रह सकूँगा। मैं हँसता और कह देता—क्यों नहीं माधो, वहाँ भी तुम

मिन्नो को अपनी बाँसुरी से लुभा सकोगे और उसके साथ एक सुन्दर और सुरम्य कुटिया में रह सकोगे। इस पर वह बाँसुरी को अपने अधरों से लगा कर प्रेम की तान छेड़ता हुआ मिन्नों से मिलने चला जाता।

"मैंने भी मिन्नो को देखा था। वह एक सीधी-सरल पहाड़ी युवती थी। उसकी आँखों में अद्भुत आकर्षण था। वह अपनी गायें चराया करती। माधो भी प्रायः उसके साथ पहाड़ की ऊँची-नीची पगडण्डियों पर ठोकरें खाता फिरता। फिर सन्ध्या को दोनों वापस आते।

"मिन्नो उसे बहुत चाहती थी। मुझे माधो से मालूम हुआ था कि जिस दिन वह उसके साथ गायें चराने न जाता, उस दिन वह उससे रूठ जाती, आँसू बहाती, और कई-कई दिन तक न बोलती। किन्तु जब प्रसन्न होती तब उसके साथ अपने खेतों की ऊँची मेड़ों पर बैठ कर बाँसुरी बजाना सीखती और बड़ी रात तक बैठी रहती। जब उस का बूढ़ा बाप क़स्बे से आ जाता तो वह भी घर को चली जाती और माधो भी बाँसुरी बजाता हुआ पहाड़ियों में खो जाता।

"इसी तरह छः महीने बीत गये। इस बीच में मैंने राजरानी को देखा और अनुभव किया कि वह कुछ बेचैन-सी रहती है। उसके स्वर में दर्द होता, दुःख होता और होती व्यथा, जिस से मर्म-भेदी गीत निकलते—बिखरे हुए, लय और ताल से स्वतन्त्र!

"माधो की बाँसुरी भी पहले से गीत न गाती। वह उन्मत्तों की भाँति बड़ी रात तक घूमा करता। मन में उथल-पुथल मचा देने वाली बाँसुरी की ध्वनि अब नीरस-सी जान पड़ती, जैसे वह भी बाँसुरी वाले के साथ ही पागल हो गयी हो। माधो को मिन्नो से मिलने का अवसर न मिलता था।

"मिन्नो की दशा दोनों से बुरी थी। वह अब गायें चराने न जाती। खेतों की ऊँची मेड़ों पर बाँसुरी बजाना न सीखती। उसके पिता ने उसे माधो ऐसे बेकार नवयुवक के साथ फिरने से रोक दिया था। उसने कहा था, उससे लगन लगा कर क्या लेगी? सूखी बाँसुरी की

तानों से तो पेट न भरेगा ? उस दिन से मिन्नो घर की चारदीवारी में बन्द कर दी गयी थी। चहकती हुई चिड़िया को निर्दयी ने पिंजरे में बन्द कर दिया था।

"राजरानी को इस बात का पता चल गया। उस ने किसी न किसी तरह माधो को अपने यहाँ नौकर रख लिया। मिन्नो की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। उसे माधो से मिलने की आशा मिल गयी, किन्तु अब माधो का दिल उसके क़ाबू से निकल चुका था। उस पर अब राजरानी का अधिकार था। मिन्नो का स्थान अब उस ने ले लिया था। कहने को माधो दस रुपया वेतन पाता था, पर वह तो शाहज़ादों की भाँति रहता था। मिन्नो ने देखा—माधो के लम्बे कुरते की जगह सिल्क की कमीज़ है, खादी की मैली धोती की जगह पीले किनारे की रेशमी धोती है, पैरों में नोकदार जूता है। वह रो पड़ी—ग़रीब पहाड़ी लड़की!

"पहले तो माधो कभी-कभी मिन्नो के पास आता भी था, किन्तु एक दिन उसने स्पष्ट कह दिया—राजरानी मुझ से विवाह करना चाहती है। मैं तुम से नहीं मिल सकता। यह बातचीत मैंने अपने कानों से सुनी थी। मेरे कुञ्ज के पीछे खड़े वे बातें कर रहे थे। मुझे स्मरण है, मिन्नो बहुत देर तक रोती रही थी। जब वह जाने लगा था तो उसने कहा था—'माधो मुझे एक दिन दो, एक दिन मेरे साथ सैर करो, मुझे बाँसुरी के दो गीत सुनाओ। इस के बाद तुम्हें मेरी ओर से राजरानी से विवाह करने की इजाज़त होगी'। माधो ने उत्तर दिया था—'कल का दिन मै तुम्हारे साथ बिताऊँगा'। इस के पश्चात् दोनों अपनी अपनी राह चल दिये थे।

"उस दिन मिन्नो ने माधो को रोककर पूछा था—तुम मुझ से प्रेम करते हो या नहीं ? उस का उत्तर था—'नहीं'। मिन्नो उस दिन को पछताती थी जब उसने माधो से लौ लगाई थी, परन्तु भाग्य में उस के लिए अभी सुख का एक दिन बाकी था। और कौन जाने वह दिन

कितना लम्बा हो जाये और उस दिन वह अपने खोये हुए प्रेम को पुनः पा ले !

"रामानन्द ! सच कहता हूँ मुझे मिन्नो की इस बात पर आश्चर्य-सा हुआ। उसे माधो को ठुकरा देना चाहिए था और मेरी नज़रों में तो माधो और राजरानी दोनों ही गिर चुके थे, वहाँ मिन्नो समाई जाती थी। उस की वह अबोध, सरल और उदासीन आकृति अब भी मेरे सामने है और उसकी अन्तिम करुण प्रार्थना अब भी मेरे कानों में गूंज रही है।

"दूसरे दिन माधो आया। मिन्नो हँसती हुई उस से मिली और उस के हाथ में हाथ दिये चल दी। मैं दोनों के पीछे हो लिया। दिन भर वे इधर उधर घाटियों में घूमते रहे। हर उस जगह गये, जहाँ उन्हों ने प्रेम के दिन गुज़ारे थे। सन्ध्या को वह उसे इस चट्टान पर ले आयी। यहाँ आकर उसने माधो से इन पहाड़ियों का प्रसिद्ध विरह-गीत सुनाने की प्रार्थना की। माधो ने बाँसुरी को काँपते हुए अधरों से लगाया। विरह का लोक-गीत वायु-मंडल में गूंज उठा और ऐसा जान पड़ा जैसे एक क्षण के लिए मिन्नो के प्रति माधो का अनुराग जाग पड़ा है।

"गीत के समाप्त होने पर मिन्नो ने उसे अपनी भुजाओं में भींच लिया और तनिक अलग हट कर बोली—'माधो, मालूम है तुम्हें, इस चट्टान के साथ किस घटना का सम्बंध है ?'

माधो उसके और समीप हो बैठा, बोला नहीं।

"मिन्नो बोली—'दस वर्ष बीते, यहाँ एक ग्वाला रहता था। उसका नाम था रखिया। सुन्दरता, चुस्ती और चालाकी में वह गाँव के ग्वालों का सिरताज था। कभी-कभी नगर में जाकर मदारी के खेल भी करता था। ऐसी कलाबाज़ियाँ लगाता कि देखने वाले चकित रह जाते। पहाड़ी गीत गाने में तो उसे कमाल हासिल था ही, किन्तु नगर से वहाँ के गीत भी सीख आया था। जब गाँव में आकर वह

अपनी लोचदार स्वर में उन्हें गाता तो सुनने वाले मुग्ध हो जाते।
पहाड़ी युवतियां बड़े प्रेम से उसके गीत सुनतीं। इन्हीं गीतों के कारण
गिरिजा उससे प्रेम करने लगी थी। रणिया ने उसका प्रेम-पात्र बनने के
लिए कई युक्तियां लड़ाई थीं, किन्तु कोई सफल न हुई थी। वह एक
निर्धन पहाड़ी लड़की थी और रणिया एक मध्यवित्त का पहाड़ी युवक,
परन्तु न जाने क्यों वह उस की ओर ध्यान न देती ? एक दिन जब
गिरिजा ने समीप से रणिया को देखा, उस की बेसुध करने वाली तानें
सुनीं तो वह उस की हो गयी। रणिया उस पर मर मिटा। और फिर
प्रेम के कई दिन और कई रातें बीत गयीं।

" परन्तु यह तन्मयता अधिक समय तक न रह सकी। कागी ने
अपने धन से रणिया को अपने वश में कर लिया। वह एक सुन्दर
और मालदार विधवा थी। रणिया उसी का हो गया। प्रेम पर धन की
विजय हुई। एक दिन उस ने गिरिजा को स्पष्ट शब्दों में बता दिया 'मैं
कागी से विवाह करूँगा।' गिरिजा का सरल हृदय इस आघात को न
सह सका। वह दीवानी-सी हो गयी। आख़िर एक दिन वह रणिया
के पास गयी और उस ने उस से प्रार्थना की कि अब, जब तुम ने मेरे
प्रेम को ठुकरा दिया है, अब, जब तुम ने कागी से विवाह करने का
निश्चय कर लिया है, मुझे एक दिन की भीख दो, सिर्फ़ एक दिन मेरे
साथ गुज़ारो।

" रणिया ने भौंहें सिकोड़ लीं और क्षण भर तक सोचता रहा।
आख़िर उस ने गिरिजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली। गिरिजा के मुख
पर फिर लाली दौड़ गयी।

" फिर सारा दिन गिरिजा ने उस के साथ बिताया, इस बीच वह
कई बार रोयी, कई बार हँसी, कई बार मुस्कराई, और जब सन्ध्या तक
पाषाण-हृदय रणिया पर उस के प्रेम का कोई प्रभाव न पड़ा और वह
उस के साथ पत्थर के बुत का-सा व्यवहार करता रहा, तो शाम को गिरिजा
उस के साथ सैर करने निकली। घूमते घूमते वे इस चट्टान पर बैठे, और

गिरिज ने रखिया से उन पहाड़ियों का वही प्रसिद्ध विरह-गीत सुनाने का निवेदन किया। रखिया गाने लगा :—

हम ने कई स्वर्ण प्रभात इकट्ठे मिल कर सूर्य का स्वागत करने में बिताये और कई सुनहली सन्ध्याएँ इकट्ठे जाकर उसे विदा करने में गुज़ारीं!

प्रेम की दुनिया भी कैसी अजीब दुनिया है!

जिस में दिन और रात क्षण बन जाते हैं, और प्रातः-सन्ध्या उन क्षणों की सीमाएँ!

हम ने ये क्षण उल्लास से बिताये हैं;

इस छोटे से अर्से में इन घाटियों की सैर की है;

बँसरी बजाते रहे हैं,

गायें चराते रहे हैं,

और अब प्रेम के सुखद-मधुर-क्षण बीत गये हैं और विरह की दुखद लम्बी घड़ियाँ शुरू होंगी—यह तो मौत है—यह तो मौत है—आओ हम असली मौत का स्वागत करें!

"रखिया ने अपना गीत समाप्त किया, और इस के साथ ही उस के गले में गिरिजा ने बाहें डाल दीं। एक बार ऊँचे स्वर से गीत का अन्तिम पद गाया। और इस से पहले कि रखिया सँभलता, वह उसे लेकर खड्ड के गहरे अन्धकार में कूद गयी।"

"मिन्नो ने अपनी कहानी समाप्त करते ही इस गीत के अन्तिम पद को अपने सुरीले स्वर से दुहराया और इस से पहले कि माधो सावधान होता, उस ने उसे अपनी बाहों में भींच लिया और खड्ड में कूद गयी। मैं उठ कर उस जगह आया। नीचे खड्ड में दोनों लुढ़के जा रहे थे, जुदा-जुदा नहीं, एक दूसरे के आलिंगन में।

"जीवन में वे अलग होने का प्रयत्न कर रहे थे, किन्तु मृत्यु ने उन्हें चिर-आलिंगन में बाँध दिया था।"

मैं मौन; स्तब्ध से भूमानन्द की कहानी सुन रहा था। उस ने कहा, "हाँ तो इस घटना को दस साल हो गये हैं और अब भी पहाड़ी लोगों का विचार है कि हर दस साल के बाद इस प्रेम की वेदी पर दो प्रेम-पुजारियों की आहुति पड़ती है।

इस से पहले कि भूमानन्द अपनी कहानी समाप्त करता, हमें एक चीत्कार सुनाई दिया। हम ने मुड़ कर देखा—युवती ने युवक को बाहों में भींच कर खड्ड में गिरा दिया था और स्वयं भी उस के साथ लुढ़की जा रही थी।

हम दोनों उठ कर उस जगह आयें, किन्तु दोनों खड्ड की गहराइयों में डूब गये थे। केवल उन पहाड़ियों का प्रसिद्ध विरह-गीत वायुमंडल में गूंज रहा था।

'और अब प्रेम के सुखद मधुर क्षण बीत गये हैं'
और विरह की दुखद लम्बी घड़ियाँ....'

परिशिष्ट

कहानियों का रचना-काल

सपने	१६४१
नजिया	१६३२-३३
चट्टान	१६४०
बदरी	१६३४
वह मेरी मँगेतर थी	१६३४
अंकुर	१६३८
फूल का अंजाम	१६३०
जादूगरनी	१६२६
उबाल	१६४२
३२४	१६३३
नरक का चुनाव	१६३२-३३
चित्रकार की मौत	१६३३
मरीचिका	१६३२
निशानियाँ	१६३२
जुदाई की शाम का गीत	१६३२



सितारों के खेल

(एक दम नवीन संशोधित संस्करण)

सितारों के खेल— अश्क जी का पहला उपन्यास है, जो अपने आधार भूत विचार की यथार्थता के बावजूद रूमान में डूबा है। अपने इस पहले उपन्यास को आरम्भ करने से पूर्व अश्क उर्दू-हिंदी संसार में एक कुशल कहानीकार के रूप में ख्याति पा चुके थे। यही कारण है कि यह उपन्यास पहले प्रयत्नों के दोषों से मुक्त है और किसी उत्तम कहानी की भाँति पहले पृष्ठ ही से पाठक का मन मस्तिष्क अपने में बांध लेता है।

आज से लगभग बारह वर्ष पहले उपन्यास के प्रथम संस्करण की आलोचना करते हुए "हँस" बनारस ने लिखा था :

"विश्व कवि वाल्ट ह्विट मैन की दो अमर पंक्तियाँ

Comerade this is no book,
Who touches this, touches a man.

अश्क के उपन्यास **सितारों के खेल** पर पूरी तरह लागू होती हैं। इस उपन्यास में जीवन के दुख-सुख, हास्य-अश्रु, विनोद-संताप का जो सुन्दर सजीव और मर्म-स्पर्शी वर्णन है, वह अश्क की कला को आदर्श रूप में व्यक्त करता है।"

उपन्यास अपनी इस तीसरी आवृत्ति तक पहुँचते पहुँचते हिंदी के अतिरिक्त उर्दू, सिंधी, पंजाबी, गुजराती आदि भाषाओं में भी अनूदित हो चुका है, जो इसकी लोकप्रियता का सहज प्रमाण है।

सुन्दर आकर्षक मुख पृष्ठ, अच्छी जिल्द मूल्य ३॥। मात्र !

काले साहब

काले साहब अश्क जी की नयी कहानियों और संस्मरणों का संग्रह है।

आज तक अश्क जी के संग्रह एक ही तरह की कहानियों को लेकर सकलित होते रहे हैं और कई बार एक ही रस की शिकायत पाठकों को रही है। **काले साहब** में पहली बार पाठक को भिन्न रसों का आभास मिलेगा। एक ओर 'काले साहब' और "अड्डी चुक भूतना" का हास्य है और दूसरी ओर 'कश्मीरी लाल अश्क' का दर्द; एक ओर बरूंसी के फूल और भैंस' का व्यंग्य है, दूसरी ओर 'चारा काटने की मशीन' की हास्यास्पदता और फिर 'बगूले' और 'सतीत्व का आदर्श' की कटुता!

इसके साथ ही **काले साहब** की कहानियां अथवा संस्मरण, केवल कहानियां या संस्मरण नहीं, जिन्हें लेखक ने मात्र पाठकों के मनोरंजनार्थ लिखा हो, वरन् उनके हास्य, व्यंग्य, सुख-दुख के तारों में बड़ी कुशलता से लेखक ने उपादेयता को समो दिया है।

और इस प्रकार 'काले साहब' की प्रत्येक कहानी अथवा संस्मरण हमारे समाज की किसी न किसी समस्या की ओर इंगित करता हुआ उसकी गति-विधि का चित्रण करता है।

सुन्दर दो रंगा मुख पृष्ठ, अच्छी जिल्द मूल्य ३॥)